मासिक समाचारपत्र ● पूर्णांक 9 ● वर्ष 1, अंक 10–11 ● अगस्त–सितम्बर 2011 ● पाँच रुपये ● सोलह पृष्ठ

मज़दूर बिगुल

पूँजीवादी व्यवस्था को ख़त्म किये बिना भ्रष्टाचार मिट नहीं सकता!

अण्णा हज़ारे का आन्दोलन झूठी उम्मीद जगाता है

लूट-अन्याय-भ्रष्टाचार के वृक्ष की फुनगियाँ कतरना "दूसरी आज़ादी" की लड़ाई नहीं

सम्पादकीय अग्रलेख

पिछली 17 अगस्त से शुरू हुआ अण्णा हज़ारे का अनशन 28 अगस्त को समाप्त हो गया। 27 अगस्त को संसद ने सर्वसम्मति से प्रस्ताव पारित करके उनकी 3 माँगों को लोकपाल विधेयक पर विचार कर रही संसद की स्थायी समिति के पास भेज दिया। संसद में सभी दलों के सांसदों ने अण्णा हज़ारे के आन्दोलन की सराहना की और रामलीला मैदान के मंच पर "टीम अण्णा" के प्रवक्ताओं ने संसद और सांसदों को बार-बार धन्यवाद दिया। अण्णा का गाँव रालेगण सिद्धि मीडिया का नया ठिकाना बन गया है। अण्णा हज़ारे भारतीय जनता, ख़ासकर मध्यवर्गीय जनता के बीच एक नयी हस्ती बनकर उभरे हैं। टीवी चैनलों पर बहसों का सिलसिला जारी है कि किस तरह फ़िल्मी या खेलों की दुनिया के सितारों के बजाय एक बूढ़ा सन्त टाइप आदमी देश के युवाओं का नया "आइकन" बनकर उभरा है।

पब्लिक का मूड देखकर अण्णा हज़ारे ने भी अपने माँगपत्रक को थोड़ा विस्तारित कर दिया है। अब वे चुनाव सुधार की माँगों पर भी आन्दोलन की बात करने लगे हैं। वैसे जनलोकपाल की अपनी माँगों को भी उन्होंने आन्दोलन के दौरान ही विस्तारित कर दिया था। राज्यों में लोकायुक्त की नियुक्ति, निचले स्तरों पर भ्रष्टाचार को लोकपाल के दायरे में लाने और सिटीज़न्स चार्टर की माँगों पर ज़ोर बढ़ा दिया था।

कहने की ज़रूरत नहीं कि निचले स्तर का भ्रष्टाचार जनता की रोज़मर्रा की समस्या है। गाँवों में मनरेगा की मज़दूरी से लेकर लेखपालों, बीडीओ के दफ़्तर आदि में फैला भ्रष्टाचार हो, या शहरों में हर सरकारी दफ़्तर में चलने वाली घूसख़ोरी हो, आम ग़रीब आबादी ही उससे सबसे ज़्यादा प्रभावित होती है। राशन कार्ड, मतदाता पहचानपत्र, अस्पताल से लेकर पुलिस थाने तक हर काम के लिए अपनी गाढ़ी कमाई से जो रक़म चुकानी पड़ती है वह उस पर बहुत भारी पड़ती है। श्रम विभाग से लेकर ईएसआई के दफ़्तर तक में फैले भ्रष्टाचार से सभी मज़दूर वाकिफ़ होते हैं। आम ग़रीब और निम्न मध्यवर्गीय आबादी को वाक़ई यह महसूस होता है कि भ्रष्टाचार एक बहुत बड़ी समस्या है जिसके चलते ही उसे अपने अधिकार नहीं मिल पाते हैं। बहुत से मज़दूरों को यह भ्रम है कि अगर श्रम विभाग के दफ़्तरों में, डीएलसी और लेबर इंस्पक्टरों की घूसख़ोरी बन्द हो जाये तो श्रम क़ानून लागू हो जायेंगे और उन्हें न्यूनतम मज़दूरी से लेकर तमाम अन्य अधिकार और सुविधाएँ मिलने लगेंगी। आम नागरिकों को लगता है कि सरकारी कर्मचारियों के भ्रष्टाचार पर लगाम लगते ही जमाख़ोरी-कालाबाज़ारी रुक जायेगी और महँगाई क़ाबू में आ जायेगी। यह सच है कि आम आबादी का जहाँ भी सरकारी दफ़्तरों से, नौकरशाही से पाला पड़ता है वहाँ भ्रष्टाचार से उसका साबका होता है। निचले स्तर पर जनता जब अपनी बुनियादी माँगों के लिए लड़ती है तो उसके साथ भ्रष्टाचार का सवाल नत्थी होता ही है। फ़ैक्टरी मज़दूरों के आन्दोलन में श्रम विभाग के भ्रष्टाचार या मनरेगा के मसले पर आन्दोलन में ग्राम प्रधान और बीडीओ दफ़्तर के भ्रष्टाचार या पुलिस में नीचे से ऊपर तक फैले भ्रष्टाचार का मुद्दा जुड़ ही जाता है। इस रूप में भ्रष्टाचार का सवाल जनवादी अधिकार का एक सवाल बनता है। लेकिन पूँजीवादी जनवाद के दायरे में जनता के जनवादी अधिकारों की लड़ाई का यह एक बहुत छोटा हिस्सा ही होता है। आगे हम इस बात पर भी विस्तार से चर्चा करेंगे कि क्या जनता यह लड़ाई लड़ते हुए भ्रष्टाचार-मुक्त पूँजीवाद हासिल कर सकती है और यदि भ्रष्टाचार मुक्त पूँजीवाद बन भी जाये तो क्या इससे जनता की समस्याओं का समाधान हो जायेगा?

अभी अण्णा हज़ारे के आन्दोलन पर लौटते हैं। मीडिया ने अपना पूरा ज़ोर लगाकर जनता की पहलक़दमी और भागीदारी को जितना उभारा, उतनी जन पहलक़दमी तो वास्तव में नहीं थी, लेकिन यह सच है कि मध्यवर्ग की एक अच्छी-ख़ासी आबादी को इसने आकर्षित किया और एक हद तक वह सड़कों पर भी निकली। जनता की भागीदारी चाहे जितनी भी हुई, मगर असल सवाल तो यह है कि "टीम अण्णा" उसे ले कहाँ जाना चाहती है, उसके पास समाधान क्या है? लोकपाल विधेयक के कुल नौ मसौदे संसद की स्थायी समिति के पास हैं। इसमें सरकारी विधेयक, टीम अण्णा का जन लोकपाल, अरुणा राय का मसौदा, लोकसत्ता पार्टी के जयप्रकाश नारायण का मसौदा, टी.एन. शेषन का मसौदा आदि शामिल हैं। कई सौ और सुझाव भी उसे मिल चुके हैं। थोड़े-बहुत फेरबदल के साथ इन सभी में एक बात सामान्य है – ये सभी भ्रष्टाचार दूर करने के लिए किसी न किसी तरह का प्रशासनिक ढाँचा खड़ा करने की ही बात करते हैं।

हमारा स्पष्ट मानना है कि किसी भी तरह की नौकरशाही संरचना, चाहे वह जितनी भी "स्वायत्त या स्वतन्त्र" हो, पूँजीवादी व्यवस्था में ईमानदारी और भ्रष्टाचार मुक्ति की गारण्टी नहीं दे सकती। कहने को तो, उच्चतम न्यायालय बहुत स्वायत्त है मगर उसमें भी भ्रष्टाचार है। चुनाव आयोग एक स्वायत्त संवैधानिक संस्था है मगर उसी के द्वारा कराये जाने वाले चुनावों में सारे भ्रष्ट और अपराधी जीतकर संसद में पहुँचते हैं। अण्णा हज़ारे का लोकपाल भी कोई स्वर्गलोक से अवतरित व्यक्ति नहीं होगा और न ही उसके अफ़सर तथा कर्मचारी देवदूत या फ़रिश्ते होंगे। वे भी इसी समाज से भर्ती किये जायेंगे। इस बात की कोई भी गारण्टी नहीं हो सकती कि वे भी भ्रष्टाचार न करने लगें। टीम अण्णा के विधेयक के अनुसार बनने वाले लोकपाल कार्यालय का स्वरूप एक भारी-भरकम नौकरशाहाना ढाँचे का होगा, जिसमें हज़ारों कर्मचारी और सैकड़ों अफ़सर होंगे। इसके पास जाँच करने और कई मामलों में सज़ा देने का भी अधिकार होगा। यह एक भीषण निरंकुश क़िस्म का ढाँचा होगा। अकसर कुछ पढ़े-लिखे मगर ग़ैर-जनवादी प्रवृत्ति के लोग कहा करते हैं कि भारत जैसे देश में एक प्रबुद्ध निरंकुश सत्ता की ज़रूरत है जो डण्डे मार-मारकर सब ठीक कर देगी। (ज़ाहिर है कि ऐसे लोग इस खुशफ़हमी के शिकार होते हैं कि जब यह डण्डा चलेगा, तो उनका सिर बच जायेगा!) वैसे यह निरंकुशता तो अण्णा हज़ारे की प्रवृत्ति का भी हिस्सा है। अण्णा खुद को गाँधीवादी कहते हैं लेकिन उनकी उक्तियाँ क़तई गाँधीवादी नहीं हैं। रिश्वत लेते हुए पकड़े जाने वाले लोगों को वे चौराहे पर फाँसी देने की बात करते हैं और अपनी आलोचना होने पर भड़क उठते हैं।

बहरहाल, मूल बात यह है कि जन लोकपाल का कोई भी मसौदा हो, एक लोकपाल हो या तीन हों, हर राज्य में लोकायुक्त हो या न्यायिक उत्तरदायित्व आयोग की बात हो – अन्ततः ये सभी थोड़े हेर-फेर के साथ एक प्रशासकीय तन्त्र खड़ा करके भ्रष्टाचार ख़त्म करने की बात करते हैं। मगर हम फिर दोहरायेंगे कि **किसी भी तरह का नौकरशाही तन्त्र जन-हितों की चौकसी नहीं कर सकता। एकमात्र विकल्प यह है कि जनता की सामूहिक चौकसी की विभिन्न संस्थाएँ और निकाय विकसित किये जायें जो सरकार द्वारा गठन करने से नहीं बल्कि जनान्दोलनों के गर्भ से पैदा होते हैं।** कुछ लोग दलील दे रहे हैं कि अण्णा के आन्दोलन ने भी जन-चौकसी की ऐसी ही भावना पैदा की है। सच तो यह है कि इस मुहिम का जिस हद तक भी जनान्दोलन का चरित्र था, उसे अन्ततः एक नया नौकरशाहाना ढाँचा प्राप्त करने तक सिमटा दिया गया। होना तो यह चाहिए कि जनान्दोलनों के गर्भ से ऐसी संस्थाएँ उभरकर सामने आयें जो नौकरशाही पर लगातार चौकसी रखें। समाज के हर स्तर पर जनता की चुनी हुई कमेटियों की व्यवस्था हो जो सरकार और प्रशासन के कामों पर चौकसी और निगरानी का काम करें। इन कमेटियों में कुछ "गणमान्य" और "प्रबुद्ध" लोगों के बजाय जनता के विभिन्न वर्गों के लोगों का प्रतिनिधित्व होना चाहिए। जैसे मज़दूर माँगपत्रक–2011 में माँग की गयी है कि श्रम एवं उद्योग से सम्बन्धित सभी विभागों में नौकरशाही और लालफ़ीताशाही पर लगाम लगाने के लिए ऊपर से नीचे तक हर स्तर पर ऐसी अधिकारसम्पन्न नागरिक समितियाँ गठित की जायें जिनमें मज़दूरों के प्रतिनिधि, नियोक्ताओं के प्रतिनिधि, श्रम क़ानूनों के विशेषज्ञ, मज़दूर संगठनों और जनवादी अधिकार आन्दोलन के प्रतिनिधि शामिल हों।

(पेज 14 पर जारी)

कैसा है यह लोकतन्त्र और यह संविधान किनकी सेवा करता है? (बारहवीं किस्त) 11
माँगपत्रक शिक्षणमाला–8 : स्त्री मज़दूरों की विशेष माँगें 7
भारत में जनवादी अधिकार आन्दोलन पर तृतीय अरविन्द स्मृति संगोष्ठी की रिपोर्ट 8
ग़रीबों की जान से खेलकर होती है दवाओं की परख 5

बजा बिगुल मेहनतकश जाग, चिंगारी से लगेगी आग!

पूँजीवादी व्यवस्था को ख़त्म किये बिना भ्रष्टाचार मिट नहीं सकता!

(पेज 15 से आगे)

और राजनीतिक संरचना के लिए भी प्रतिनिधि चुने जायें। यह एक पिरामिड जैसा ढाँचा होगा। ऐसे ढाँचे में प्रबन्धन या तकनीक के विशेषज्ञ स्वतन्त्र नौकरशाह या टेक्नोक्रेट के रूप में नहीं काम करेंगे, बल्कि हर स्तर पर चुने हुए जनप्रतिनिधियों की कमेटियों में उनका स्थान होगा और वे जनता की चौकसी और निर्देशन में काम करेंगे। यह एक ऐसी व्यवस्था होगी जिसमें नीतियाँ बनाने वाले (विधायिका) और उन्हें लागू करने वाले (कार्यपालिका) के बीच अन्तर नहीं होगा। ऊपर से नीचे तक इस पिरामिडीय संरचना में विकेन्द्रीकरण और केन्द्रीकरण दोनों के तत्व मौजूद होंगे। ऐसी व्यवस्था के भीतर छोटे-छोटे निर्वाचक मण्डलों में चुने हुए प्रतिनिधि भी लगातार जन-चौकसी के दायरे में होंगे। बड़े निर्वाचक मण्डलों में आम आदमी के चुने जाने का अधिकार समाप्त हो जाता है और चुनावों में पूँजी और ताक़त की भूमिका प्रधान हो जाती है। इस व्यवस्था में ऐसा नहीं होगा। एक ऐसी व्यवस्था के भीतर ही वापस बुलाने का अधिकार लागू हो सकता है।

अगर व्यावहारिक होकर सोचा जाये तो निश्चित ही ऐसी किसी व्यवस्था के भीतर भी नौकरशाहाना प्रवृत्तियाँ और भ्रष्टाचार पैदा होते रहेंगे, लेकिन इस व्यवस्था के दायरे में जनता की सतत क्रान्तिकारी चौकसी उनकी झाड़-पोंछ करती रहेगी। दूसरे, ऐसी व्यवस्था में जनता की सामूहिक चेतना लगातार विकसित होती जाती है जिसके चलते सहस्राब्दियों से चला आ रहा श्रम विभाजन (शारीरिक और मानसिक श्रम का अन्तर) क्रमशः मिटता चला जाता है और सामाजिक-आर्थिक ढाँचे के भीतर पूँजीवादी विशेषाधिकारों की ज़मीन क्रमशः कमज़ोर होती चली जाती है।

इस चर्चा को समेटते हुए कहा जा सकता है कि यदि कोई सामाजिक क्रान्ति आर्थिक सम्बन्धों में आमूलगामी बदलाव की बात नहीं करती, यदि मुट्ठीभर लोगों का उत्पादन के सभी साधनों पर एकाधिकार बना रहता है और समाज की बहुसंख्यक आबादी महज़ उनके लिए मुनाफ़ा पैदा करने के लिए जीती रहती है तो किसी भी तरह की ऊपरी पैबन्दसाज़ी से भ्रष्टाचार जैसी समस्या दूर नहीं हो सकती। यदि कोई आमूलगामी क्रान्ति उत्पादन के साधनों को मुट्ठीभर मुनाफ़ाख़ोरों के हाथों से छीनकर जनता के हाथों में नहीं देती, परजीवी पूँजी के तमाम गढ़ों, शेयर बाज़ारों आदि पर ताले नहीं लटका देती, भारत जैसे देशों में होने वाली कोई क्रान्ति अगर सारे विदेशी क़र्ज़ों को मंसूख़ नहीं करती, सारी विदेशी पूँजी को ज़ब्त करके जनता के हाथों में नहीं सौंप देती, नीचे से ऊपर तक सारे प्रशासकीय ढाँचे को ध्वस्त कर उसका नये सिरे से पुनर्गठन नहीं करती तो न सिर्फ़ समाज में असमानता, अन्याय और अत्याचार बने रहेंगे बल्कि हर स्तर पर वह भ्रष्टाचार भी बना रहेगा जिसे अण्णा हज़ारे और उनकी टीम महज़ एक क़ानून बनाकर दूर करने के दावे कर रही है।

अण्णा हज़ारे जिन चीज़ों की बात कर रहे हैं वे सब अगर अमल में भी आ जायें तो भी ये सीमित जनवादी अधिकार की कुछ माँगें बनती हैं। इन्हें दूसरी आज़ादी की लड़ाई के रूप में पेश करना हास्यास्पद है और यह जनता में विभ्रम पैदा करता है। कुल-मिलाकर, उनकी नीयत चाहे जो भी हो, उनका आन्दोलन लोगों के ग़ुस्से और असन्तोष को बाहर निकलने का ज़रिया देकर व्यवस्था के लिए एक सेफ़्टीवॉल्व और शॉक एब्ज़ॉर्बर का काम कर रहा है। ●

"बुर्जुआ अख़बार पूँजी की विशाल राशियों के दम पर चलते हैं। मज़दूरों के अख़बार ख़ुद मज़दूरों द्वारा इकट्ठा किये गये पैसे से चलते हैं।" – लेनिन

'मज़दूर बिगुल' मज़दूरों का अपना अख़बार है। यह आपकी नियमित आर्थिक मदद के बिना नहीं चल सकता।

बिगुल के लिए सहयोग भेजिये/जुटाइये।
सहयोग कूपन मँगाने के लिए मज़दूर बिगुल कार्यालय को लिखिये।

'मज़दूर बिगुल' के ब्लॉग पर भी आप इसकी सामग्री देख सकते हैं और अपने विचार एवं सुझाव भेज सकते हैं। ब्लॉग का पता :
http://bigulakhbar.blogspot.com
'मज़दूर बिगुल' की वेबसाइट पर हम काम कर रहे हैं जिस पर जल्दी ही 'नई समाजवादी क्रान्ति का उद्घोषक बिगुल' के सभी अंक, नवम्बर 2010 से आरम्भ 'मज़दूर बिगुल' के अंक और राहुल फ़ाउण्डेशन से प्रकाशित सभी बिगुल पुस्तिकाएँ उपलब्ध होंगी।

विकास के नाम पर पूँजीपतियों की सेवा

(पेज 3 से आगे)

एकड़ ज़मीन का अधिग्रहण किया था। किसानों को प्रति एकड़ साढ़े चार लाख रुपये दिये गये थे। अब पंजाब अर्बन डेवलपमेण्ट अथॉरिटी इसमें से 86 एकड़ ज़मीन रिहायशी कालोनी के लिए चार करोड़ रुपये प्रति एकड़ की क़ीमत पर बेच रही है। बाक़ी की ज़मीन पर विश्वविद्यालय की जगह जेल का निर्माण किया गया है।

पूरे देश में ज़मीन अधिग्रहण के ज़ोरदार विरोध के दबाव में केन्द्र सरकार ज़मीन अधिग्रहण के सम्बन्ध में नया क़ानून पास करने की तैयारी कर रही है। नये क़ानून के मसविदे में कहा गया है कि ग्रामीण इलाक़े में अधिग्रहीत की जाने वाली ज़मीन के लिए बाज़ार क़ीमत की कम से कम छह गुना क़ीमत अदा करनी होगी और शहरी क्षेत्र में दोगुनी। साथ ही ज़मीन बेचने वाले और ज़मीन पर निर्भर परिवार के एक सदस्य को ज़मीन पर लगने वाले प्रोजेक्ट में नौकरी देनी होगी या फिर दो लाख रुपये मुआवज़ा। इसके अलावा भी कुछ अन्य भत्तों की बात इस नये क़ानून के मसविदे में कही गयी है। साथ ही जब तक अधिग्रहीत की जा रही ज़मीन के 80 प्रतिशत मालिक सहमति नहीं देते तब तक ज़मीन का अधिग्रहण किया ही नहीं जा सकता है। बहुफ़सली और सिंचाई वाली ज़मीन का अधिग्रहण नहीं किया जा सकता। ज़मीन का जनहित में ही अधिग्रहण किया जा सकता है। एक बार तय किया गया जनहित दुबारा बदला नहीं जा सकेगा। अगर पाँच वर्ष के भीतर तय मक़सद के लिए ज़मीन का इस्तेमाल नहीं किया जाता तो ज़मीन वापस करनी होगी। यह क़ानून ऊपरी तौर पर जनवादी होने का भ्रम पैदा करता है। यह ठीक है कि पहले के मुक़ाबले इस नये क़ानून में ज़मीन मालिकों को राहत दी गयी है लेकिन यहाँ भी क़ानून की बुनियाद पहले वाली ही है। हमारा कहना यह है कि ज़मीन बेचना या न बेचना और इसकी शर्तें तय करना सरकार का काम नहीं है। यह ज़मीन बेचने वाले और ख़रीदने वाले की आपसी सहमति पर निर्भर करता है। ज़मीन बेचने से मना करने वाले भले ही अल्पमत में ही क्यों न हों, उनके साथ ज़बरदस्ती नहीं होनी चाहिए।

गोबिन्दपुरा ज़मीन अधिग्रहण घटनाक्रम में तो पंजाब सरकार ने बेशर्मी की सारी सीमाएँ पार कर दी हैं। पूरे देश में जबरन ज़मीन अधिग्रहण के ख़िलाफ़ एक लहर उठी हुई है, देश की तथाकथित जनतान्त्रिक व्यवस्था का असल पूँजीपरस्त चेहरा अधिक से अधिक बेनक़ाब होता जा रहा है। इससे घबराकर नया क़ानून बनाने की प्रक्रिया चल रही है और पिछले दिनों ख़ुद सुप्रीम कोर्ट को दख़ल देते हुए जबरन ज़मीन अधिग्रहण की सख़्त शब्दों में निन्दा करनी पड़ी थी। सुप्रीम कोर्ट ने कहा था कि सबसे बुरी क़िस्म के अपराधियों, क़ानून के पेशेवर उल्लंघनकर्ताओं तक को सुनवाई का अवसर मिलता है लेकिन सरकार किसानों को सुनवाई का अवसर दिये बिना ही उनकी ज़मीन हथिया लेती है।

ज़मीन अधिग्रहण के मुद्दे पर यह बात बहुत महत्त्वपूर्ण है कि असल नुक़सान अपनी नाम-मात्र की घर-ज़मीन भी गँवा देने वाले मज़दूरों और ग़रीब किसानों का होता है। दूसरे नम्बर पर बड़े हमले का शिकार वे मध्यम किसान होते हैं जो खेतों में ख़ुद काम करते हैं। शहरों में होने वाले ज़मीन अधिग्रहण में भी ग़रीब व निम्न मध्यवर्ग ही नुक़सान झेलता है। पूँजीपतियों और सरकार की थोपी गयी क़ीमत और पुनर्वास मुआवज़े आदि से ग़रीब लोग ही ठगे जाते हैं। यही वे तबक़े हैं जिनके लिए ज़मीन-सम्पत्ति पर जबरन क़ब्ज़े के ख़िलाफ़ लड़ाई ज़रूरी बनती है। धनी किसानों तथा अमीर वर्ग के अन्य लोगों को अगर बाज़ार क़ीमत से कुछ कम पैसा भी हासिल होता है तो भी उन्हें अधिक फ़र्क़ नहीं पड़ता। उनकी जीवन की गाड़ी पहले की तरह मज़े से चलती रहती है।

देश के विभिन्न हिस्सों में आज जबरन भूमि अधिग्रहण के ख़िलाफ़ किसानों के आन्दोलन उठ रहे हैं। इन आन्दोलनों को सत्ता के बर्बर दमन का भी सामना करना पड़ रहा है। किसानों के उन आन्दोलनों में भले ही बड़े पैमाने पर ग़रीब तथा मध्यम किसान शिरक़त करते हैं, लेकिन इनका नेतृत्व धनी किसानों के संगठन या अवसरवादी संसदीय पार्टियों के नेताओं के हाथों में रहता है। यही इन आन्दोलनों की मुख्य कमज़ोरी है।

ग़रीब तथा मध्यम किसानों के सच्चे मित्र और रहनुमा मज़दूर वर्ग, ख़ासतौर पर औद्योगिक मज़दूर वर्ग का संगठन तथा लड़ाई अभी कमज़ोर है। जब पूँजी की ग़ुलामी के ख़िलाफ़ युद्ध में मज़दूर वर्ग संगठित होकर लड़ाई के अग्रिम मोर्चे पर आयेगा तभी ग़रीब तथा मध्यम किसानों के आन्दोलनों को भी सही दिशा मिल पायेगी और संगठित मज़दूर वर्ग के रूप में उन्हें अपनी मुक्ति की लड़ाई में भरोसेमन्द साथी मिल पायेगा।

● लखविन्दर

मज़दूर बिगुल का स्वरूप, उद्देश्य और ज़िम्मेदारियाँ

1. 'मज़दूर बिगुल' व्यापक मेहनतकश आबादी के बीच क्रान्तिकारी राजनीतिक शिक्षक और प्रचारक का काम करेगा। यह मज़दूरों के बीच क्रान्तिकारी वैज्ञानिक विचारधारा का प्रचार करेगा और सच्ची सर्वहारा संस्कृति का प्रचार करेगा। यह दुनिया की क्रान्तियों के इतिहास और शिक्षाओं से, अपने देश के वर्ग संघर्षों और मज़दूर आन्दोलन के इतिहास और सबक़ से मज़दूर वर्ग को परिचित करायेगा तथा तमाम पूँजीवादी अफ़वाहों-कुप्रचारों का भण्डाफोड़ करेगा।

2. 'मज़दूर बिगुल' देश और दुनिया की राजनीतिक घटनाओं और आर्थिक स्थितियों के सही विश्लेषण से मज़दूर वर्ग को शिक्षित करने का काम करेगा।

3. 'मज़दूर बिगुल' भारतीय क्रान्ति के स्वरूप, रास्ते और समस्याओं के बारे में क्रान्तिकारी कम्युनिस्टों के बीच जारी बहसों को नियमित रूप से छापेगा और स्वयं ऐसी बहसें लगातार चलायेगा ताकि मज़दूरों की राजनीतिक शिक्षा हो तथा वे सही लाइन की सोच-समझ से लैस होकर क्रान्तिकारी पार्टी के बनने की प्रक्रिया में शामिल हो सकें और व्यवहार में सही लाइन के सत्यापन का आधार तैयार हो।

4. 'मज़दूर बिगुल' मज़दूर वर्ग के बीच लगातार राजनीतिक प्रचार और शिक्षा की कार्रवाई चलाते हुए सर्वहारा क्रान्ति के ऐतिहासिक मिशन से उसे परिचित करायेगा, उसे आर्थिक संघर्षों के साथ ही राजनीतिक अधिकारों के लिए भी लड़ना सिखायेगा, दुअन्नी- चवन्नीवादी भूजाछोर "कम्युनिस्टों" और पूँजीवादी पार्टियों के दुमछल्ले या व्यक्तिवादी-अराजकतावादी ट्रेडयूनियनबाज़ों से आगाह करते हुए उसे हर तरह के अर्थवाद और सुधारवाद से लड़ना सिखायेगा तथा उसे सच्ची क्रान्तिकारी चेतना से लैस करेगा। यह सर्वहारा की क़तारों से क्रान्तिकारी भरती के काम में सहयोगी बनेगा।

5. 'मज़दूर बिगुल' मज़दूर वर्ग के क्रान्तिकारी शिक्षक, प्रचारक और आह्वानकर्ता के अतिरिक्त क्रान्तिकारी संगठनकर्ता और आन्दोलनकर्ता की भी भूमिका निभायेगा।

मज़दूर बिगुल 'जनचेतना' की सभी शाखाओं पर उपलब्ध है :

- **डी-68, निरालानगर, लखनऊ-226020 फोन : 0522-2786782**
- **जनचेतना स्टाल, काफ़ी हाउस बिल्डिंग, हज़रतगंज, लखनऊ (शाम 5 से 8 बजे)**
- **जाफ़रा बाज़ार, गोरखपुर-273001**
- **जनचेतना, दिल्ली – फ़ोन : 09910462009**
- **जनचेतना, लुधियाना – फोन : 09815587807**

मज़दूर बिगुल

सम्पादकीय कार्यालय : 69 ए-1, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ-226006
फ़ोन : 0522-2335237
दिल्ली सम्पर्क : बी-100, मुकुन्द विहार, करावलनगर, दिल्ली-94, फ़ोन: 011-64623928
ईमेल : bigul@rediffmail.com
मूल्य : एक प्रति – रु. 5/-
वार्षिक – रु. 70/- (डाक ख़र्च सहित)

लुधियाना में टेक्सटाइल मज़दूरों की पंचायत

फौलादी एकजुटता की ज़रूरत समझी मज़दूरों ने

बिगुल संवाददाता

लुधियाना की चण्डीगढ़ रोड स्थित पूडा मैदान में 14 अगस्त को टेक्सटाइल मज़दूर पंचायत का आयोजन किया गया। मज़दूर पंचायत की शुरुआत गगनभेदी नारों के साथ हुई। एक बच्चे दानिश तथा मज़दूर साथी घनश्याम ने क्रान्तिकारी गीत पेश किये। टेक्सटाइल मज़दूर यूनियन के संयोजक राजविन्दर ने टेक्सटाइल मज़दूर पंचायत के उद्देश्य के बारे में विस्तार से बताते हुए कहा कि आज का समय मज़दूरों के लिए बेहद कठिन और चुनौतियों भरा समय है। पिछले कुछ वर्षों में ही महँगाई सारे रिकॉर्ड तोड़ गयी है, पूँजीपतियों के मुनाफ़े में दिन–रात बढ़ोत्तरी हो रही है और उनके ऐशो–आराम और एय्याशी ने सारी हदें पार कर दी हैं लेकिन मज़दूर नर्क की ज़िन्दगी भोग रहे हैं। उन्होंने कहा कि लुधियाना के टेक्सटाइल मज़दूरों की भी यही कहानी है। टेक्सटाइल मालिकों के मुनाफ़े और एय्याशियों में कोई कमी नहीं आयी है लेकिन मज़दूरों को मर–मर कर जीना पड़ रहा है। उचित आमदनी और अन्य हक़–अधिकारों की मालिकों से उम्मीद ही क्या की जाये, वे तो श्रम क़ानूनों की भी खुलेआम धज्जियाँ उड़ा रहे हैं। आठ घण्टे की दिहाड़ी का क़ानून तो शायद टेक्सटाइल मालिक भूल ही चुके हैं। वेतन, पीस रेट, दिहाड़ी बेहद कम दी जाती है। पहचानपत्र, हाज़िरी कार्ड, ईएसआई आदि सुविधाएँ हासिल नहीं हैं। क़ानून के मुताबिक़ महँगाई भत्ता, मकान किराया भत्ता, परिवहन भत्ता, वर्दी तथा अन्य विशेष भत्ते लुधियाना के टेक्सटाइल मालिक लागू नहीं करते। अधिकतर टेक्सटाइल कारख़ानों में मज़दूरों के साथ अपमानजनक व्यवहार होता है। गाली–गलौज, मारपीट की जाती है। उन्होंने सवाल किया कि आख़िर कब तक हम ये धक्केशाहियाँ सहते रहेंगे?

राजविन्दर ने कहा कि इस सीज़न में कुछ टेक्सटाइल कारख़ानों के मज़दूर मालिकों के आगे वेतन या पीस रेट बढ़ोत्तरी आदि की माँगें रख रहे हैं। इन मज़दूरों की अपने अधिकारों के प्रति जागरूकता और संघर्ष की भावना स्वागतयोग्य है, लेकिन हमें अपने बिखरे संघर्षों को एक मंच पर लाना होगा। उन्होंने कहा कि सामूहिक विचार–विमर्श, व्यापक एकता, योजना बनाने और तैयारी के मक़सद से ही यह पंचायत बुलायी गयी है।

इसके बाद अनेक कारख़ानों के मज़दूरों ने विचार–विमर्श में भाग लिया। यह बात सामने आयी कि पिछले वर्ष पावरलूम मज़दूरों ने हड़ताल करके पीस रेट बढ़वाया था लेकिन मालिकों ने कई तिकड़मबाज़ियाँ करके मज़दूरों की आमदनी को कम करने की कोशिशें की हैं। मज़दूरों ने कहा कि असल माँग तो पीस रेट प्रणाली को पूरी तरह ख़त्म करके वेतन प्रणाली लागू करने की है, लेकिन इसके लिए मज़दूरों को फौलादी एकजुटता बनाकर लड़ना होगा नहीं तो पीस रेट बढ़ोत्तरी से ही काम चलाना होगा। ईएसआई सुविधा लागू करवाने तथा कारख़ाने में मज़दूरों को पक्का करवाने, पहचानपत्र, हाज़िरी रजिस्टर लागू करवाने के लिए मज़दूरों में काफ़ी जोश देखने को मिला। लुधियाना में 25 वर्ष से टेक्सटाइल का काम करने वाले भगवानदास नाम के मज़दूर साथी ने कहा कि मज़दूर कभी संघर्ष में पीछे नहीं रहे हैं, लेकिन नेताओं के कारण मज़दूरों को हार सहनी पड़ती है। उन्होंने कहा कि यूनियन के नेताओं को हमेशा अडिग रहना चाहिए, मज़दूर हर क़ुर्बानी करने को तैयार हैं। कई अन्य मज़दूरों ने कहा कि मज़दूरों में भी कमियाँ हैं। हड़ताल के समय बहुत से मज़दूर घर चले जाते हैं। मीटिंगों में शामिल नहीं होते। इस तरह मज़दूरों की एकता व संघर्ष कमज़ोर होते हैं।

लुधियाना में आयोजित टैक्सटाइल मज़दूरों की पंचायत में मौजूद सैकड़ों मज़दूर

मज़दूर पंचायत में कारख़ाना मज़दूर यूनियन के संयोजक लखविन्दर ने कहा कि मज़दूरों का सच्चा संगठन वही होता है जिसमें हर स्तर पर जनवाद को लागू किया जाता हो। उन्होंने कहा कि टेक्सटाइल मज़दूर पंचायत का आयोजन बहुत सराहनीय क़दम है जिसमें मज़दूरों को खुलकर अपनी बात कहने का अवसर मिला है। उन्होंने कहा कि दलाल संगठनों के नेता कभी ऐसा नहीं करते हैं।

मज़दूर पंचायत में प्रेमनाथ, नसीम, सुरिन्दर, राजकुमार, घनश्याम, लक्ष्मण, विक्रम, वीरेन्दर आदि मज़दूरों ने अपने विचार रखे। अन्त में साथी राजविन्दर ने कहा कि मज़दूर पंचायत में हुए सलाह–मशविरे के आधार पर माँगपत्र तैयार करके मालिकों के सामने पेश किया जायेगा। अगर मालिक माँगें नहीं मानते हैं तो उन्हें हड़ताल के लिए तैयार रहना होगा।

जुलाई–अगस्त के बाद के कुछ महीनों में टेक्सटाइल उत्पादन में काफ़ी तेज़ी होती है इसलिए यह समय संघर्ष करने के लिए मज़दूरों के बहुत अनुकूल होता है। मज़दूर पंचायत के लिए लुधियाना के विभिन्न इलाक़ों के टेक्सटाइल मज़दूरों में बड़े स्तर पर प्रचार किया गया था। जगह–जगह टेक्सटाइल मज़दूर यूनियन की ओर से मज़दूरों की मीटिंगें आयोजित की गयीं। एक पर्चा बड़ी संख्या में मज़दूरों के बीच वितरित किया गया। मज़दूरों में इस पंचायत के लिए काफ़ी उत्साह था। भारी बारिश के कारण काफ़ी मज़दूर पहुँच नहीं पाये फिर भी पाँच सौ से अधिक मज़दूरों ने मज़दूर पंचायत में भाग लिया। •

गोबिन्दपुरा ज़मीन अधिग्रहण काण्ड

विकास के नाम पर पूँजीपतियों की सेवा

इण्डिया बुल्स नाम की एक कम्पनी द्वारा लगाये जा रहे पिऊना थर्मल पावर प्लाण्ट के लिए पंजाब के मानसा ज़िले के गोबिन्दपुरा गाँव में जबरन ज़मीन अधिग्रहण के घटनाक्रम ने पूँजीवादी हुक्मरानों के बर्बर काले कारनामों में एक और अध्याय जोड़ दिया है। मेहनतकश जनता पर लदी पूँजीवादी तानाशाही पर चढ़ाया गया जनतान्त्रिक लबादा इस घटनाक्रम से एक बार फिर चिथड़े–चिथड़े हो गया है। विकास के नाम पर जनता को लूटा जा रहा है, मारा–पीटा जा रहा है। यह कैसा जनतन्त्र है जहाँ जनता से बिना कुछ बातचीत किये, बिना उससे पूछे, बिना उसकी राय लिये, मनमानी क़ीमतों पर उसकी ज़मीन–सम्पत्ति का फ़ैसला कर दिया जाता है? शान्तिपूर्ण विरोध करने पर उससे अपराधियों की तरह निपटा जाता है।

पिऊना थर्मल पावर प्लाण्ट के लिए जबरन ज़मीन अधिग्रहण के लिए पंजाब सरकार द्वारा चार बार नोटिफ़िकेशन जारी किये गये थे। चारों बार अधिग्रहीत की जा रही ज़मीन बदली जाती रही। चौथे नोटिफ़िकेशन के तहत लगभग 881 एकड़ ज़मीन के अधिग्रहण का ऐलान किया गया। इसमें गोबिन्दपुरा गाँव की लगभग 805 एकड़ ज़मीन आती है। इसमें से 166 एकड़ के मालिक किसान अपनी ज़मीन देना नहीं चाहते। उनका कहना है कि ज़मीन की जो क़ीमत दी जा रही है वह बहुत कम है और इतनी कम रक़म पर उनका पुनर्वास सम्भव नहीं है। 53 एकड़ ज़मीन के मालिक किसान उसे बेचना ही नहीं चाहते। सबसे अधिक ज़ुल्म इस गाँव के मज़दूरों पर हो रहा है। मज़दूरों के 14 घर भी अधिग्रहण वाली ज़मीन के अन्दर आते हैं। इन ग़रीब मज़दूरों के पास ज़मीन की मिलकियत के कोई लिखित दस्तावेज़ नहीं हैं। इन्हें ज़मीन की क़ीमत और पुनर्वास पैकेज के तौर पर एक पैसा भी हासिल नहीं हो रहा। लेकिन इन पीड़ित मज़दूरों–किसानों की कोई नहीं सुन रहा, न सरकार न कम्पनी।

पहले 20 जून की रात को पुलिसिया लाव–लश्कर के साथ कम्पनी ने ज़मीन पर क़ब्ज़ा करने की कोशिश की। लोगों ने डटकर मुक़ाबला किया और क़ब्ज़ा नहीं होने दिया और यह वादा लिया गया था कि जबरन ज़मीन नहीं हथियाई जायेगी। लेकिन 23 जुलाई को पंजाब के सिविल और उच्च पुलिस अधिकारी आठ ज़िलों की पुलिस लेकर पहुँच गये। खम्भे लगाकर लोहे के काँटेदार तारों की बाड़ लगा दी गयी। बिजली कनेक्शन काट दिये गये। पंजाब के 17 किसान तथा मज़दूर जनसंगठनों के मंच ने पीड़ितों का साथ देते हुए जबरन क़ब्ज़े को छुड़वाने के लिए संघर्ष किया तो इस संघर्ष को भी पंजाब सरकार ने बर्बरतापूर्वक कुचलने की नीति अख़्तियार की। गोबिन्दपुरा के पीड़ित किसान–मज़दूर किसी से मिल न पायें, इसके लिए गोबिन्दपुरा गाँव को पुलिस ने सील कर दिया। जो भी गोबिन्दपुरा गाँव के पीड़ित किसानों–मज़दूरों का हाल–चाल पूछने के लिए भी वहाँ जाना चाहता उसे मिलने नहीं दिया जा रहा था। विरोध करने पर गिरफ़्तार कर लिया जाता। पंजाब के 17 किसान–मज़दूर संगठनों के मंच ने ऐलान किया कि 2 अगस्त को जबरन क़ब्ज़े वाली ज़मीन से खम्भे और काँटेदार तार उखाड़ दिये जायेंगे। पूरे मानसा ज़िले में एक तरह से कर्फ़्यू लगा दिया गया। गोबिन्दपुरा में तो बाहर से किसी को घुसने देने की पुलिस ने गुंजाइश ही नहीं छोड़ी।

आन्दोलनकारियों को मानसा ज़िले में कहीं इकट्ठे होने और गोबिन्दपुरा की तरफ़ जाने से रोकने के लिए हर हथकण्डा अपनाया गया। सारे पंजाब की पुलिस को इस तरह तैनात किया गया कि गोबिन्दपुरा गाँव पंजाब से पूरी तरह कट गया। मानसा ज़िले में आने वाले हर चौपहिया वाहन की रोक–रोककर तलाशी ली गयी। मानसा–बरनाला ज़िले की सीमा पर स्थित गाँव कोटदून में शाम के समय किसानों का एक काफ़िला गोबिन्दपुरा की तरफ़ बढ़ने की कोशिश कर रहा था। पुलिस के बर्बर लाठीचार्ज में भटिण्डा ज़िले के हमीदी गाँव के निवासी बुज़ुर्ग आन्दोलनकारी सुरजीत सिंह की मौत हो गयी। अनेक किसान बुरी तरह ज़ख़्मी हो गये। पुलिस ने किसानों के 50 से भी अधिक वाहनों को बुरी तरह से क्षतिग्रस्त कर दिया। कई अन्य जुलूसों पर भी पुलिस ने भारी लाठीचार्ज किया और हज़ारों आन्दोलनकारियों को गिरफ़्तार करके जेल भेज दिया। गोबिन्दपुरा के पुरुषों को तो पुलिस ने पहले ही उठाकर जेल में डाल दिया था, लेकिन गोबिन्दपुरा की लगभग 100 स्त्रियों ने इकट्ठा होकर काँटेदार तारों के कई खम्भे उखाड़ फेंके। इससे कुछ दिन पहले भी गाँव की स्त्रियों ने खम्भे उखाड़े थे। ये खम्भे अभी तक दुबारा नहीं लगाये जा सके हैं।

ज़मीन की बिक्री ख़रीदने वाले और बेचने वाले की आपसी सहमति का मामला है, चाहे ख़रीदार सरकार हो या कोई निजी पूँजीपति। इसलिए क़ानून बनाकर ज़मीन बेचने के लिए मजबूर करना जनवादी अधिकारों का हनन है। भले ही क़ानून में बहुमत की मर्ज़ी की भी बात क्यों न कही गयी हो! ज़मीन के मालिक ही ज़मीन बेचने के लिए सहमत नहीं हैं तो ज़मीन को ज़बरदस्ती बेच दिया जाना सरासर बेइन्साफ़ी है। ज़मीन की क़ीमत, पुनर्वास की रक़म, प्रोजेक्ट में नौकरी तथा अन्य मुआवज़े या भत्तों की शर्त रखना और किसी भी समझौते के लिए सहमति बनाना या न बनाना ज़मीन के मालिकों का जनवादी अधिकार है। अंग्रेज़ी हुकूमत के समय से इस जनवादी अधिकार के हनन के लिए बने क़ानून में कुछ संशोधन करते हुए आज तक आज़ाद भारत के हुक्मरान भी उसी क़ानून को लागू करते आ रहे हैं।

यह भी देखने वाली बात है कि जनहित के नाम पर जिस ज़मीन का अधिग्रहण किया जाता है, उसके नये मालिक (सरकार या निजी कम्पनी) द्वारा अकसर उस मक़सद के लिए ज़मीन का इस्तेमाल नहीं किया जाता जिसका बहाना बनाकर अधिग्रहण किया जाता है। यह भी अकसर होता है कि किसान को दी गयी क़ीमत से कहीं ऊँची क़ीमतों पर ज़मीन को आगे बेच दिया जाता है। उदाहरण के तौर पर 1998 में पंजाब के फ़रीदकोट ज़िले में बाबा फ़रीद विश्वविद्यालय के लिए सरकार ने 122 किसानों से 158

(पेज 2 पर जारी)

करावल नगर के मज़दूरों ने बनायी इलाक़ाई यूनियन

बिगुल संवाददाता

दिल्ली के उत्तर–पूर्वी इलाक़े में स्थित करावल नगर राजधानी के सबसे अधिक जनसंख्या घनत्व वाले विधानसभा क्षेत्रों में से एक है। इस क्षेत्र की आबादी 2.5 लाख से ज़्यादा है जिनमें से अधिकांश मज़दूर आबादी है जिसकी संख्या 1.5 लाख से ऊपर है। इसमें ज़्यादातर मज़दूर ठेका, पीस रेट और कैजुअल पर 12 से 14 घण्टे सिंगल रेट पर खटते हैं। ज्ञात हो कि यह वही इलाक़ा है जहाँ 2009 में बादाम मज़दूर यूनियन ने 16 दिनों की लम्बी हड़ताल की थी। उस हड़ताल में क़रीब 10,000 से ज़्यादा मज़दूरों ने जुझारू संघर्ष में हिस्सा लिया था।

इस हड़ताल ने दिखाया था कि असंगठित मज़दूरों ने सिर्फ़ अपने मालिक के ख़िलाफ़ ही नहीं बल्कि पूरे बादाम मालिकों के ख़िलाफ़ संघर्ष चलाया तथा इसका आधार पेशे के तौर पर ही सही परन्तु इलाक़ाई था। ज़ाहिरा तौर पर 16 दिन की हड़ताल में आधी–अधूरी ही जीत हासिल हुई लेकिन बादाम मज़दूरों के संघर्ष ने इलाक़ाई संगठन की धारणा को पुख़्ता करने का काम किया। साथ ही साथ बादाम मज़दूर यूनियन के नेतृत्व ने पेशे की सीमा को ख़त्म करते हुए 23 मार्च की मज़दूर पंचायत में करावल नगर मज़दूर यूनियन बनाने का प्रस्ताव रखा (मज़दूर पंचायत की रिपोर्ट **मज़दूर बिगुल** के अप्रैल, 2011 अंक में थी) जिसमें 500 से ज़्यादा मज़दूरों ने इस प्रस्ताव का स्वागत किया।

7 जुलाई, 2011 को करावल नगर मज़दूर यूनियन के गठन के लिए अगुआ टीम की बैठक हुई जिसमें मज़दूर साथियों की समन्वय समिति बनायी गयी, जिसने इलाक़े में यूनियन के प्रचार और इसके महत्त्व को बताते हुए सभी पेशों के मज़दूरों को सदस्य बनाने की योजना बनायी। सदस्यता का प्रमुख पैमाना सक्रियता को रखा गया। साथ ही यूनियन के संयोजक नवीन ने बताया कि जब यूनियन की सदस्यता 100 हो जायेगी, तो इसके सभी सदस्यों को बुलाकर इसके पदाधिकारी, कार्यकारणी व अन्य पदों के लिए चुनाव कराया जायेगा।

21 अगस्त को यूनियन के कार्यालय पर शाम आठ बजे आम सभा बुलायी गयी, जिसमें यूनियन की सदस्यता ले चुके लगभग 100 सदस्यों ने भाग लिया जिसमें 60 से ज़्यादा मज़दूर थे। सभा का संचालन प्रेम प्रकाश ने किया जिन्होंने यूनियन का इतिहास बताते हुए मज़दूरों को अपने संवैधानिक एवं क़ानूनी अधिकारों की लड़ाई के लिए एकजुट होने का आह्वान किया। तदुपरान्त यूनियन के सदस्य सनी सिंह ने यूनियन के संविधान को पढ़कर इस पर सहमति ली जिसे सभी मज़दूरों ने ध्वनिमत से पास किया। पदाधिकारियों के लिए विभिन्न नाम प्रस्तावित किये गये जिन्हें सर्वसम्मति से चुन लिया गया। कार्यकारिणी के लिए सात लोगों का नाम प्रस्तावित किया गया जिन्हें चर्चा के बाद चुन लिया गया। यूनियन के उद्देश्यों एवं विचारों के प्रचार–प्रसार और यूनियन के दायरे को व्यापक बनाने के लिए 12 सदस्यों का प्रचार दस्ता बनाया गया।

यूनियन के अध्यक्ष जलालुद्दीन ने बताया कि आयेदिन हम निर्माण मज़दूरों का पैसा रख लेना, औज़ार रख लेना तथा बदतमीज़ी करना आम बात है और इसका कारण यह है कि हम बिखरे हुए हैं। मालिकान के पास दौलत, पुलिस और गुण्डों की ताक़त होती है जिनका जवाब हम सभी मज़दूरों को मिलकर देना होगा। चाहे किसी भी पेशे के मज़दूर के साथ अन्याय होने पर हम सबको उसके साथ आना होगा।

यूनियन के उपाध्यक्ष अवधेश मण्डल ने बताया कि मुनाफ़े की हवस में मालिकान मज़दूरों को कोल्हू के बैल की तरह खटाते हैं, चाहे उसका पेशा कुछ भी हो, मज़दूर महिलाओं के साथ बदतमीज़ी की जाती है, रिक्शा और ठेला चलाने वाले मज़दूर साथियों को गुण्डों और पुलिस तक की वसूली और अन्याय को सहना पड़ता है और इन सबके ऊपर हमारे साथ जानवरों जैसा अपमानजनक बर्ताव किया जाता है। इसलिए ज़रूरी है कि इस इलाक़े में अपनी एकजुटता बनायी जाये और हर क़िस्म के अन्याय का मुँहतोड़ जवाब दिया जाये।

सभा को आगे बढ़ाते हुए कपिल ने अन्ना हज़ारे को पूँजीपतियों का गन्ना बताया जो पूँजीपतियों के द्वारा मज़दूरों के श्रम की लूट पर चूँ तक नहीं करते। कपिल ने बताया कि अगर मान लें कि सारा भ्रष्टाचार दूर भी हो जाये (जो कि इस व्यवस्था में नहीं हो सकता) तो भी मज़दूरों के श्रम की लूट जारी रहेगी। असल में अन्ना हज़ारे, रामदेव, जयगुरुदेव जैसे लोग समय–समय पर पैदा होते रहते हैं जो कि इस पूँजीवादी व्यवस्था को बचाने का काम करते हैं – जनता के गुस्से पर छींटे मारने और ठण्डा करने का काम करते हैं।

सभा के अन्त में यूनियन के सचिव नवीन ने बताया कि आज देश में क़रीब 70 करोड़ मज़दूर हैं, अकेले दिल्ली में क़रीब 65 लाख मज़दूर हैं जिसका बहुत बड़ा हिस्सा असंगठित मज़दूरों का है। करावल नगर क्षेत्र में तो यह आबादी और भी अधिक है। तमाम क़ानूनी अधिकार मालिकों और ठेकेदारों की जेबों में रहते हैं। न तो न्यूनतम मज़दूरी मिलती है और न ही कोई पहचान कार्ड; साप्ताहिक अवकाश, पीएफ़, ईएसआई की बात ही क्या करें?

उन्होंने कहा कि ऐसे में तमाम पेशों के मज़दूरों को एक इलाक़ाई संगठन के बैनर तले गोलबन्द होने की ज़रूरत है। हम अपनी संगठित ताक़त के बूते ही अपने हक़–हकूक़ को पा सकते हैं। जब तक हम अकेले हैं तब तक बहुत कुछ कर पाना सम्भव नहीं है। ऐसे संगठन के तहत किसी भी मज़दूर के ख़िलाफ़ अन्याय होने पर इलाक़े के सभी मज़दूर उसके साथ लड़ने के लिए सड़कों पर उतर सकते हैं। •

हड़ताल : मेट्रो के सफ़ाईकर्मियों ने शोषण के ख़िलाफ़ आवाज़ बुलन्द की

बिगुल संवाददाता

नई दिल्ली में दिलशाद गार्डन स्टेशन पर 30 अगस्त को एटूज़ेड ठेका कम्पनी के सफ़ाईकर्मियों ने श्रम क़ानूनों के उल्लंघन के ख़िलाफ़ हड़ताल की जिसका नेतृत्व दिल्ली मेट्रो कामगार यूनियन ने किया। इसमें दिलशाद गार्डन, मानसरोवर तथा झिलमिल मेट्रो स्टेशन के 60 सफ़ाईकर्मी शामिल थे। मेट्रो सफ़ाईकर्मियों का आरोप है कि ठेका कम्पनी तथा मेट्रो प्रशासन श्रम क़ानूनों को ताक पर रखकर मज़दूरों का शोषण कर रहे हैं जिससे परेशान होकर सफ़ाईकर्मियों ने हड़ताल पर जाने का रास्ता अपनाया। सफ़ाईकर्मी अखिलेश ने बताया कि देश में महँगाई चरम पर है और ऐसे में कर्मचारियों को अगर न्यूनतम वेतन भी न मिले तो क्या हम भूखे रहकर काम करते रहें? जीने के हक़ की माँग करना क्या ग़ैर–क़ानूनी है? आज जब दाल 80 रुपये किलो, तेल 70 रुपये किलो, दूध 40 रुपये किलो पहुँच गया है तो मज़दूर इतनी कम मज़दूरी में परिवार का ख़र्च कैसे चला पायेगा?

दिलशाद गार्डन के एक अन्य सफ़ाईकर्मी गोपाल ने बताया कि उन्हें मेट्रो रेल में काम करते हुए चार साल हो गये हैं लेकिन आज भी सफ़ाईकर्मी 4,000–4,500 रुपये वेतन पर खट रहे हैं, ऐसे में सवाल तो यह भी उठता है कि एक तरफ़ तो "मेट्रो मैन" ई. श्रीधरन अण्णा हज़ारे की भ्रष्टाचार–विरोधी नौटंकी में शामिल होते हैं, लेकिन मेट्रो में मज़दूरों के साथ हो रहे भ्रष्टाचार पर एक शब्द भी क्यों नहीं बोलते। वहीं दूसरी तरफ़ अण्णा एण्ड पार्टी किरन बेदी से लेकर प्रशान्त भूषण तक भ्रष्टाचार मुक्त मेट्रो रेल के कसीदे पढ़ते हैं लेकिन मेट्रो की चकाचौंध के नीचे मज़दूरों के शोषण पर सवाल नहीं उठाते जो कि न्यूनतम मज़दूरी क़ानून 1948 का उल्लंघन है।

हड़ताल क़रीब सुबह 6 बजे से दोपहर 12 बजे तक चली। इसके बाद मेट्रो भवन से आये डीएमआरसी के लेबर इंस्पेक्टर जे.सी. झा तथा स्टेशन मैनेजर ने मज़दूरों की माँगों को सुनकर आश्वासन दिया है कि इन सभी माँगों को एक महीने के अन्दर पूरा कर दिया जायेगा। इसके बाद लेबर इंस्पेक्टर जे.सी. झा ने एटूज़ेड कम्पनी के प्रोजेक्ट मैनेजर बालचन्द्रन से न्यूनतम मज़दूरी न दिये जाने पर सवाल पूछा तो बालचन्द्रन ने कहा कि जब देश में कहीं पर भी न्यूनतम मज़दूरी क़ानून लागू नहीं होता तो उनकी कम्पनी न्यूनतम मज़दूरी क़ानून का पालन क्यों करे? ठेका कम्पनियों के इस प्रकार के बयानों से साफ़ है कि उन्हें डीएमआरसी प्रशासन का कोई ख़ौफ़ नहीं है, क्योंकि मज़दूरों के श्रम की लूट में डीएमआरसी तथा ठेका कम्पनियाँ दोनों का 'अपवित्र' गँठजोड़ है। वैसे असल में, प्रधान नियोक्ता होने के नाते सभी श्रम क़ानूनों को लागू कराने की ज़िम्मेदारी डीएमआरसी की बनती है।

यूनियन के प्रवीण ने बताया कि सफ़ाईकर्मियों का ज्ञापन मेट्रो भवन में दिया गया है जिसमें चार प्रमुख माँगें रखी गयी हैं : (1) न्यूनतम मज़दूरी 247 रुपये (2) साप्ताहिक अवकाश (3) ईएसआई व पीएफ की सुविधा दी जाये (4) निकाले गए मज़दूरों को वापस काम पर लिया जाये। इसके साथ ही यूनियन ने डीएमआरसी व ठेका कम्पनी को एक महीने में सभी माँगें पूरी करने का समय दिया है। अगर इन माँगों पर ग़ौर नहीं किया जाता है तो यूनियन को फिर से आन्दोलन तथा क्षेत्रीय श्रमायुक्त के घेराव का रास्ता चुनना पड़ेगा।

यूनियन सदस्य अजय ने बताया कि इस संघर्ष में हमने अभी आंशिक विजय हासिल की है लेकिन अभी जीतने को बहुत कुछ है, क्योंकि हमारे क़ानूनी अधिकार अभी आधे भी पूरे नहीं हुए हैं और ठेका कम्पनियाँ अभी तीन तिकड़म कर मज़दूरों का शोषण कर रही है। दूसरे मेट्रो प्रशासन ठेका क़ानून 1970 का उल्लंघन करते हुए आज भी स्थायी प्रकृति के काम पर 10,000 से ज़्यादा ठेका मज़दूरों को खटाकर मुनाफ़ा निचोड़ रहा है। ज़ाहिरा तौर पर यूनियन की दूरगामी लड़ाई तो ठेका प्रथा को ख़त्म करने की है।

ज्ञात हो कि यूनियन ने 10 जुलाई को जन्तर–मन्तर पर प्रदर्शन कर मेट्रो रेल में श्रम क़ानूनों के उल्लंघन को सामने लाने का काम किया था जिसके बाद तमाम अख़बारों से लेकर संसद में भी दिल्ली मेट्रो रेल में श्रम क़ानूनों के उल्लंघन का सवाल उठाया गया। इस संघर्ष ने मेट्रो रेल के ठेका मज़दूरों में यूनियन की ताक़त का अहसास कराया तथा मज़दूरों के बीच बैठे डर को भी बाहर निकालने का काम किया। डीएमकेयू के इस जुझारू संघर्ष की बदौलत ही केन्द्रीय श्रमायुक्त ने भी मज़दूरों द्वारा दायर मुक़दमे में टॉम ऑपरेटर कम्पनी ट्रिग और बेदी एण्ड बेदी कम्पनी को न्यूनतम मज़दूरी, साप्ताहिक अवकाश लागू करने का आदेश दिया जो साफ़ कर देता है कि डीएमआरसी में लम्बे समय से मज़दूरों को न्यूनतम मज़दूरी भी नहीं दी जा रही थी। ज़ाहिरा तौर पर कुछ क़ानूनी माँगों पर जीत हासिल करके मेट्रो मज़दूरों का संघर्ष समाप्त नहीं हो गया है। मेट्रो के मज़दूर इस बात को समझते हैं। मेट्रो की चमचमाती शान–ओ–शौक़त जिन सफ़ाईकर्मियों की मेहनत पर टिकी है और जो सबसे ख़राब परिस्थितियों में काम करते हैं, उन्होंने अपनी–अपनी ठेका कम्पनियों के ख़िलाफ़ आवाज़ बुलन्द करनी शुरू कर दी है। •

अरबों रुपये के धन्धे में इन्सानी ज़िन्दगी का सौदा

ग़रीबों की जान से खेलकर होती है दवाओं की परख

कई दशक पहले एक मशहूर डॉक्टर ने कहा था – "जब डॉक्टर पैसा कमाने के लिए काम करेंगे तो जनता के पैर बिना बात के ही काटे जायेंगे, बिना ज़रूरत जनता को टनों के हिसाब से दवाइयाँ खिलायी जायेंगी।" वह शायद यह जोड़ना भूल गया कि जनता की जानें भी ली जायेंगी, क्योंकि दुनिया का स्वास्थ्य ढाँचा अब विकास के उस चरण पर पहुँच गया है जहाँ ऐसे "चमत्कार" भी सम्भव हैं। पहले से आम लोग यह तो सुनते रहे हैं कि ग़रीब मरीज़ सही समय पर डॉक्टरी सहायता या दवाएँ न मिलने के चलते, या फिर सरकारी लापरवाही के चलते जान से हाथ धो बैठते हैं, लेकिन अब दवा कम्पनियों ने लोगों की जान लेने का बिल्कुल नया तरीक़ा ईजाद किया है, जिसके तहत दवाओं की परख के लिए ग़रीब देशों की जनता को बलि का बकरा बनाया जा रहा है।

पहले पहल यह बात 2004 में सामने आयी जब दो भारतीय दवा कम्पनियों द्वारा ग़ैर–क़ानूनी तौर पर दवाओं का परीक्षण करने का मामला सामने आया। इन परीक्षणों के दौरान आठ लोगों की मौत हो गयी। फिर दिसम्बर 2008 में एक अख़बारी रिपोर्ट में बताया गया कि भारत में लोगों को पूरा इलाज लेने के लिए दवाओं के परीक्षण में शामिल होने के लिए मजबूर किया जाता है या इलाज पूरा करने का झाँसा देकर परीक्षणों में शामिल कर लिया जाता है। रिपोर्ट में यह भी बताया गया कि कैंसर के एक मरीज़ को शुरुआती इलाज मिलने के बाद बाक़ी बचे इलाज के लिए कहा गया कि वह या तो परीक्षण में शामिल हो या फिर घर जाये। फिर 2010 के दौरान कैंसर रोकने वाली वैक्सीन का ट्रायल सुर्ख़ियों में रहा, जो कि आन्ध्र प्रदेश और गुजरात में चल रहा था। इस ट्रायल के दौरान छह आदिवासी लड़कियों की मौत हो गयी, हालाँकि बाद में कहा गया कि ये मौतें परीक्षण की वैक्सीन की वजह से नहीं बल्कि किसी अन्य कारणवश हुई हैं। लेकिन फिर भी इस ट्रायल की जाँच के दौरान इसमें घोर अनियमितताएँ और लापरवाहियाँ सामने आयीं कि किस तरह भारत में लोगों की निरक्षरता, अल्प–ज्ञान और ग़रीबी का फ़ायदा उठाया जाता है और मानवता तथा विज्ञान के नियमों और उसूलों को ताक पर रख दिया जाता है।

इन ख़बरों के बाद सरकार के स्वास्थ्य मन्त्रालय की कुम्भकर्णी नींद में कुछ ख़लल पड़ी और स्वास्थ्य मन्त्री जी ने आँखों पर पानी के छींटे मारते हुए जागते होने का सबूत देने की कोशिश की। अभी–अभी केन्द्रीय स्वास्थ्य मन्त्री ने यह माना है कि पिछले चार सालों के दौरान दवाओं के परीक्षण के कारण 1,725 लोगों की जान चली गयी है। 2007 में मौतों की गिनती 132 थी जो 2008 में 288, 2009 में 637 और 2010 में बढ़कर 688 तक पहुँच चुकी है। इनमें से सिर्फ़ 22 मामलों में ही मुआवज़ा दिया गया है।

पूरे मेडिकल क्षेत्र की तरह अब दवाओं का परीक्षण भी करोड़ों–अरबों रुपयों का व्यवसाय बन चुका है। इस धन्धे में लगभग 1,000 कम्पनियाँ हैं जिसमें से आधे से ज़्यादा के मुख्यालय अमेरिका में हैं। 1990 से पहले दवाओं के परीक्षण मुख्य तौर पर अमेरिका और पश्चिमी यूरोप के देशों में होते थे, लेकिन 1990 के बाद बदलाव आना शुरू हो गया। दवाओं का परीक्षण करने वाली कम्पनियों ने अपने मुनाफ़े तथा दवा बनाने वाली कम्पनियों के मुनाफ़े को बढ़ाने के लिए इन ट्रायलों पर होने वाले ख़र्च को कम करने के लिए विकासशील तथा पिछड़े देशों की तरफ़ रुख़ करना शुरू किया, क्योंकि एक तो इन देशों में लागत कम हो जाती है और साथ ही क़ानूनी तथा मरीज़ों को ट्रायलों में शामिल करने की "व्यावहारिक" समस्याएँ भी कम आती हैं।

कम्पनियों के मुताबिक़ एक नयी दवा विकसित करने तथा इसे मनुष्य के इस्तेमाल के लिए फ़ायदेमन्द या नुक़सानदेह सिद्ध करने में एक बिलियन मतलब 100 करोड़ डॉलर का ख़र्च आता है। हालाँकि इस ख़र्च पर बहुत से लोगों ने सवालिया निशान खड़े किये हैं जिनका कहना है कि असल में ख़र्च दवा विकसित करने पर नहीं बल्कि दवाओं को बेचने के लिए इस्तेमाल किये जाने वाले हथकण्डों जैसे डॉक्टरों की हिस्सेदारी तथा तोहफ़े देने और इन कम्पनियों को चलाने वालों की मोटी तनख़्वाहों पर होता है। ख़ैर, इस बारे में फिर कभी। कहा जाता है कि दवा को विकसित करने पर आने वाले 'बड़े' ख़र्चे का काफ़ी बड़ा हिस्सा, लगभग 40 फ़ीसदी, दवा के मनुष्यों पर होने वाले प्रयोगों पर होता है। भारत जैसे देशों में यह ख़र्चा अमेरिका तथा यूरोपीय देशों के मुक़ाबले 10 गुना कम होता है। इसके अलावा मरीज़ों की बहुतायत के कारण परीक्षण के लिए मरीज़ जल्दी मिल जाते हैं जिस कारण ट्रायल जल्दी ख़त्म होते हैं तथा कम्पनी को पेटेण्ट के 20 सालों के दौरान अपनी दवा बेचने के लिए ज़्यादा समय मिल जाता है। ज़्यादा समय मतलब ज़्यादा मुनाफ़ा।

आइये देखें, कम्पनियाँ अपनी लागत कैसे कम करती हैं

अमेरिकी तथा पश्चिमी यूरोप के देशों में मरीज़ों को प्रयोगों में शामिल करने के लिए कम्पनियों को तरह–तरह के प्रलोभन देने पड़ते हैं, क्योंकि स्वास्थ्य बीमा या स्वास्थ्य की सरकारी सहूलियत होने के कारण इन देशों में नयी दवाओं के प्रयोगों में शामिल होने के लिए कम ही लोग राजी होते हैं। इसके अलावा उनकी भागीदारी को बनाये रखने के लिए भारी ख़र्च करना पड़ता है, क्योंकि इन देशों में मरीज़ अक्सर प्रयोगों से बाहर हो जाने के अपने अधिकार का इस्तेमाल करते हुए दवा के ट्रायल को बीच में ही छोड़कर चले जाते हैं। इससे एक ओर तो छोड़कर गये मरीज़ों का ख़र्चा कम्पनी के सिर पर पड़ता है, वहीं नये मरीज़ लेने का ख़र्च भी आन पड़ता है। इसके साथ ही प्रयोगों का समय भी ज़्यादा लम्बा हो जाता है जिस कारण पेटेण्ट के बाद दवा बेचकर कमाई करने का मौक़ा भी कम मिलता है।

लेकिन भारत और अन्य विकासशील देशों में कम्पनियों को इन 'मुश्किलों' का सामना नहीं करना पड़ता। इन देशों में इलाज का ख़र्च उठाने में असमर्थ मरीज़ों की बड़ी गिनती मिल जाती है। उनकी इस मजबूरी का फ़ायदा उठाकर मुफ़्त इलाज़, मुफ़्त डॉक्टरी सलाह का लालच देकर मेडिकल प्रयोगों तथा परीक्षणों को प्रायोजित करने वाली संस्थाएँ तथा फ़ार्मेसी कम्पनियाँ बिना किसी अतिरिक्त ख़र्चे के ऐसे ग़रीब मरीज़ों को नयी दवाओं के प्रयोगों में शामिल कर लेती हैं। बहुत बार धोखे से नयी दवाओं के प्रयोग को इलाज़ का एक तरीक़ा बताकर पेश किया जाता है और ग़रीब लोगों की जान के साथ खिलवाड़ किया जाता है। चूँकि भारत में ग़रीबी का महासागर है तथा ऐसे मरीज़ों की विशाल गिनती है जो अपने इलाज़ का ख़र्च नहीं उठा सकते, इसलिए भारत इन कम्पनियों तथा संस्थाओं के लिए स्वर्ग है।

इसके अलावा भारत या अन्य ग़रीब देशों में मरीज़ों के ट्रायल को बीच में छोड़कर जाने की दर बहुत कम है। इन देशों में 90 फ़ीसदी मरीज़ ट्रायल को पूरा करते हैं, जबकि पश्चिमी देशों में 10 में से 6 मरीज़ ट्रायल को बीच में ही छोड़कर चले जाते हैं। इसका एक कारण तो मुफ़्त इलाज़ तथा मुफ़्त डॉक्टरी सलाह का लालच होता है जो ग़रीब मरीज़ों को दिया जाता है। एक और बड़ा कारण यह भी है कि इन पिछड़े देशों के लोग आमतौर पर अनपढ़ होते हैं, इसलिए वे अपने अधिकार नहीं जानते या उनके पिछड़ेपन का फ़ायदा उठाकर कम्पनियाँ और ट्रायल करने वाले कर्मचारी उनको इस बारे में बिल्कुल नहीं बताते। इस तरह पश्चिमी लोगों के इलाज के लिए दवाओं के प्रयोगों की क़ीमत पिछड़े देशों के लोग उठाते हैं, सिर्फ़ इसलिए कि कम्पनियों की नज़र में उनकी जान की क़ीमत अमीर देशों के लोगों की जान की क़ीमत के मुक़ाबले कहीं कम है।

सिर्फ़ यही नहीं, पिछड़े देशों में दवाओं के प्रयोग सम्बन्धी क़ानूनों तथा नियामक प्रबन्धों का वजूद नहीं है। या इनके कम प्रभावी होने के चलते भी कम्पनियों का काम आसान हो जाता है। रही–सही कसर इन देशों के ढाँचे में फैला हुआ व्यापक भ्रष्टाचार निकाल देता है, क्योंकि इससे मरीज़ों के प्रति ज़िम्मेदारी तथा एकदम सही रिकॉर्ड रखने की ज़रूरत कम हो जाती है, जो पश्चिमी देशों में सख़्त क़ानून तथा प्रबन्ध होने के कारण सम्भव नहीं। भारत में भी ऐसा ही हुआ है। आमतौर पर होना तो यह चाहिए कि सरकार ज़रूरत को पहले ही भाँपकर क़ानून तथा नियामक संस्था स्थापित करे, पर हुआ इसके बिल्कुल विपरीत। 1990 में ही यह रुझान सामने आने के बावजूद कुछ साल पहले तक सरकार के कान पर जूँ नहीं रेंगी, उसके बाद यह जूँ रेंगी भी तो 2005 में ऐसे क़ानून बनाये गये जिससे भारत में होने वाले ट्रायलों की संख्या पहले से कहीं तेज़ गति से बढ़ी है। न सिर्फ़ इतना ही, बल्कि भारत सरकार ने कम्पनियों द्वारा देश के लोगों पर परखी जाने वाली दवाओं को भारतीय लोगों के लिए सस्ती दरों पर उपलब्ध करवाने के अपने दावे को भी छोड़ दिया है तथा कम्पनियों को भारतीय जनता की ज़िन्दगी के साथ खिलवाड़ करके मुनाफ़ा कमाने की खुली छूट दे दी है।

एक अन्य बहुत अहम मुद्दा है जिस पर विचार किया जाना चाहिए। हर समाज अमीरों तथा ग़रीबों में बँटा हुआ है। भारत में अमीर–ग़रीब के बीच की खाई कहीं अधिक गहरी है। इन दोनों वर्गों में ख़ुराक तथा रहन–सहन के सम्बन्ध में बड़ा फ़र्क़ है जिसके चलते इनकी बीमारियाँ भी अलग–अलग हैं। जैसे कि शुगर, हाई ब्लड–प्रेशर, दिल के रोग तथा कुछ मानसिक रोग आदि मुख्यत: धनिकों तथा मध्य वर्ग की बीमारियाँ हैं, जबकि ग़रीब जनता की बीमारियाँ आमतौर पर विभिन्न क़िस्म के बैक्टीरिया, अन्य इन्फ़ेक्शनों या कुपोषण के चलते होती हैं। अब चूँकि धनिक तथा मध्य वर्ग के लोग आमतौर पर दवाओं के परीक्षण में शामिल नहीं होते क्योंकि उनको परीक्षण में शामिल करने के लिए मना पाना कठिन होता है या शामिल होने के फ़ायदे से वे ज़्यादा प्रभावित नहीं होते, इसलिए इस वर्ग की बीमारियों के लिए दवाओं का परीक्षण भी ग़रीब तथा अनपढ़ लोगों पर ही किया जाता है। यह सामाजिक तौर पर ग़लत है। एक अल्पसंख्यक वर्ग के लिए बहुसंख्यक आबादी अपनी मजबूरियों के चलते बलि का बकरा क्यों बने? दूसरा, अक्सर नयी दवाओं की क़ीमत हज़ारों–लाखों में होती है जिसे ख़रीद पाना ग़रीबों के वश में नहीं होता। अब जो नयी दवाएँ ग़रीब लोग ख़रीद ही नहीं सकते उनके परीक्षण का जोखिम अपनी जान की क़ीमत पर आम लोग क्यों उठायें?

मरीज़ों पर होने वाले कम ख़र्च के अलावा, भारत जैसे देशों में परीक्षण करने के लिए तथा रिकॉर्ड रखने के लिए ज़रूरी मेडिकल श्रम–शक्ति पश्चिमी देशों के मुक़ाबले सस्ती है। इस तरह न सिर्फ़ भारत की बहुसंख्यक ग़रीब आबादी का शारीरिक शोषण ही किया जाता है, बल्कि यहाँ का बौद्धिक शोषण भी किया जाता है।

यहीं पर बस नहीं, भारत में इस तरह के खोज–कार्यों के लिए कम्पनियों को एक अन्य 'वैज्ञानिक' लाभ भी मिलता है जो भारत के लिए गर्व की नहीं बल्कि शर्म की बात है तथा जिसकी वजह है भारत की बहुसंख्यक आबादी का स्वास्थ्य सुविधाओं से वंचित होना। चूँकि भारत में बहुत सारे मरीज़ों को सही वक़्त पर सही डॉक्टरी सलाह तथा सही इलाज़ नहीं मिलता, इसलिए यहाँ बीमारियों के काफ़ी बढ़ चुके तथा बिगड़े हुए केस आराम से मिल जाते हैं तथा ऐसे मरीज़ भी बहुत मिल जाते हैं जिन्होंने दवा के परीक्षण से पहले कोई भी दवा नहीं ली होती। यह 'वैज्ञानिक' लाभ आम तौर पर पश्चिमी देशों में नहीं मिलते।

दूसरी ओर भारत के धनिक तथा नवधनिक वर्ग, जिसमें यहाँ के बहुत से डॉक्टर भी शामिल हैं, दवाओं के परीक्षण के लिए कम्पनियों के भारत में आने को 'मेडिकल टूरिज़्म' जैसे बड़े विशेषण लगाकर भारत की जनता के लिए बहुत लाभकारी सिद्ध करने पर तुला हुआ है। उनके मुताबिक़ इससे भारत के स्वास्थ्यकर्मियों को नयी तकनीकों तथा नयी दवाओं के बारे में जानकारी मिल रही है तथा भारत में मेडिकल शिक्षा तथा खोज–कार्यों का 'स्टैण्डर्ड' ऊँचा हो रहा है। इनकी मानें तो यह एक मुँहमाँगी नियामत है। पर क्या सचमुच ऐसा है? हो सकता है, नयी तकनीकें तथा नयी दवाएँ आ भी रही हों, लेकिन इनका फ़ायदा किसको है? क्या इसका फ़ायदा बहुसंख्यक आबादी को है या कुछ फ़ीसदी धनिक लोगों को है जो आमतौर पर इसलिए बीमार होते हैं, क्योंकि वे ज़रूरत से ज़्यादा खाते हैं और कोई शारीरिक काम नहीं करते या फिर अलगाव के चलते मानसिक तौर पर परेशान हैं। इन नयी तकनीकों तथा दवाओं का फ़ायदा भी इन्हीं लोगों को है, क्योंकि जिन दवाओं के लिए खोज–कार्य या परीक्षण होते हैं, वे दरअसल इन्हीं की बीमारियों से सम्बन्धित होती हैं और यही वह तबक़ा है जो देश की धन–दौलत पर क़ाबिज़ होने के चलते दवाओं पर मोटा पैसा ख़र्च कर सकता है। अगर आम जनता की बीमारियों से सम्बन्धित दवाओं का परीक्षण होता भी है तो वे इतनी महँगी होती हैं कि भारत के मेहनतकश लोग इन्हें प्राप्त करने के बारे में सोच भी नहीं सकते। हाँ, एक फ़ायदा ट्रायलों में शामिल डॉक्टरों को होता है! उन्हें उस करोड़ों–अरबों के व्यवसाय में से मुनाफ़े के कुछ टुकड़े मिल जाते हैं

(पेज 6 पर जारी)

संकटग्रस्त दैत्य के दुर्ग में तूफ़ान

(पेज 12 से आगे)

संकट की ही एक अभिव्यक्ति है। बढ़ती असमानता समृद्ध से समृद्ध पूँजीवादी समाज में भी अनिवार्य है। दुनियाभर से भारी मुनाफ़ा बटोरने वाले और ग़रीब देशों के श्रम और प्राकृतिक सम्पदा को मिट्टी के मोल ख़रीदने वाले साम्राज्यवादी लूट के एक हिस्से से अपने देश के मज़दूरों के ऊपरी तबक़े को सुविधाएँ देकर व्यवस्था–परस्त तो बनाते हैं, लेकिन वे इतने उदार नहीं हो सकते कि अपने देश के मज़दूरों को लूटना ही बन्द कर दें। बढ़ते आर्थिक संकट के दबाव में उन्हें अपने देश के मज़दूरों को भी और अधिक निचोड़ने तथा उन्हें मिल रही सुविधाओं में कटौती करने के लिए मजबूर होना पड़ रहा है। पिछले दिनों यूरोप के बहुत से देशों में हुए व्यापक आन्दोलन इसी का नतीजा थे। वहाँ मज़दूरों–कर्मचारियों का वह वर्ग अगली क़तारों में था जो दशकों से मिल रही सुविधाओं और बाक़ी दुनिया से काफ़ी बेहतर वेतन में कटौती से नाराज़ था। लेकिन ब्रिटेन में अभी जो हुआ वह एक अलग परिघटना है।

ब्रिटेन में 1980 के दशक में मार्गरेट थैचर द्वारा कठोर आर्थिक नीतियाँ लागू करने के दौर में भी दंगे भड़के थे। उसके बाद, 1995, 2001 और 2005 में भी कुछ शहरों में नस्ली दंगे हुए थे। लेकिन इस बार का विस्फोट उनसे बहुत व्यापक था और इसे जन्म देने वाला असन्तोष कहीं अधिक गहरा था। पहले के दंगे कुछ इलाक़ों तक सीमित थे, लेकिन इस बार इन दंगों ने जितनी तेज़ी से लगभग पूरे लन्दन और ब्रिटेन के सभी बड़े शहरों को अपनी लपेट में ले लिया उससे सत्ताधारी भौचक रह गये। इटली में छुट्टी बिता रहे प्रधानमन्त्री डेविड कैमरॉन को भागकर ब्रिटेन आना पड़ा। मगर ब्रिटिश शासक अब भी इस विद्रोह के सामाजिक–आर्थिक कारणों को स्वीकारने से इंकार कर रहे हैं, क्योंकि इसका मतलब होगा यह स्वीकार करना कि इन हालात के लिए ज़िम्मेदार उदारीकरण–निजीकरण की वे नीतियाँ हैं जिन्हें वे अपने देश सहित पूरी दुनिया पर थोप रहे हैं। कैमरॉन की सरकार सामाजिक सेवाओं में और अधिक कटौतियों के अपने प्रस्ताव पर अब भी अड़ी हुई है। दंगों के बाद सिर्फ़ एक कटौती वापस लेने के लिए सरकार राजी हुई है। वह है गृह विभाग के बजट में पुलिसबलों की मद में 2.7 अरब पौण्ड की कटौती का प्रस्ताव! इसकी वजह साफ़ है।

शीर्षस्थ अधिकारियों और मीडिया के अहंकारभरे और परोक्ष नस्लवादी तेवरों से हिम्मत पाकर ब्रिटिश नेशनल पार्टी और इंग्लिश डिफ़ेंस लीग जैसे ब्रिटेन के अन्धराष्ट्रवादी फ़ासिस्ट गुट भी खुलकर सामने आ गये हैं। इन गुटों के सदस्यों ने कई जगहों पर खुलेआम प्रदर्शन किये जिनमें 'कालों को मार डालो' जैसे नारे लगाये गये। कई वेबसाइटों पर प्रवासियों को देश से निकाल बाहर करने और यहाँ तक कि ख़त्म कर डालने का भी आह्वान किया जा रहा है। उल्लेखनीय है कि इन मामलों में ब्रिटिश पुलिस ने अब तक कोई कार्रवाई नहीं की है।

इतिहास में बार–बार साबित हुआ है कि जहाँ दमन है, वहीं प्रतिरोध है। इतिहास इस बात का भी गवाह रहा है कि जब ग़ुलामों के मालिकों पर संकट आता है, ठीक उसी समय ग़ुलाम भी बग़ावत पर आमादा हो उठते हैं। ब्रिटेन का यह विद्रोह उस आबादी का विद्रोह है जिसे उदारीकरण–निजीकरण की नीतियों ने धकेलते–धकेलते उस मुक़ाम पर पहुँचा दिया है जहाँ उसे अपने अस्तित्व के लिए भी जूझना पड़ रहा है। युवाओं की भारी आबादी को न कोई भविष्य दिखायी दे रहा है और न कोई विकल्प। ऐसे में बीच–बीच में इस तरह के अन्धे विद्रोह फूटते रहेंगे और पूँजीवादी शासकों की नींद हराम करते रहेंगे। ऐसे अराजक विद्रोह जनता को मुक्ति की ओर तो नहीं ले जा सकते, लेकिन पूँजीवाद और साम्राज्यवाद की भीतरी कमज़ोरी को ये सतह पर ला देते हैं और उसके सामाजिक संकट को और गहरा कर जाते हैं। साम्राज्यवादी देशों के भीतर सर्वहारा का आन्दोलन आज कमज़ोर है लेकिन बढ़ता आर्थिक संकट मज़दूरों के निचले हिस्सों को रैडिकल बना रहा है।

• सत्यप्रकाश

अमेरिका का क़र्ज़ संकट

(पेज 13 से आगे)

कॉम्प्लेक्स)। युद्ध के ख़र्चों में अगर कटौती होती है तो यह उद्योग तबाही के कगार पर पहुँच सकता है तथा पूरी अमेरिकी अर्थव्यवस्था संकट में फँस जायेगी। हथियार निर्माता पूँजीपतियों के दबाव तथा आज के विश्व के हालात के चलते अमेरिकी सरकार के लिए क़र्ज़ संकट से मुक्ति का यह दूसरा रास्ता भी लगभग बन्द है।

अमेरिकी सरकार के पास तीसरा रास्ता है नये नोट छापना। लेकिन इससे डॉलर का मूल्य कम हो जायेगा। आज के विश्व में डॉलर की स्थिति वैश्विक करेंसी की है। ज़्यादातर देशों के विदेशी मुद्रा भण्डार डॉलर में ही हैं। डॉलर का मूल्य घटने से विश्व अर्थव्यवस्था में हड़कम्प मच जायेगा। अपने निर्यातों के लिए अमेरिका पर निर्भर भारत, चीन तथा यूरोप की कई अर्थव्यवस्थाएँ भीषण संकट में फँस जायेंगी। विश्व करेंसी के रूप में डॉलर के वर्चस्व के लिए संकट खड़ा हो जायेगा।

क़र्ज़ संकट से निज़ात पाने का अमेरिकी सरकार के पास चौथा रास्ता है, अमेरिका में आम लोगों के लिए किये जाने वाले ख़र्च में कटौती। अमेरिकी हुक्मरान अब यही करने की सोच रहे हैं। लेकिन इससे अमेरिकी हुक्मरानों को अमेरिकी मेहनतकशों के तीखे प्रतिरोध का सामना करना पड़ेगा, जिस तरह क़र्ज़ संकट में फँसे ग्रीस तथा स्पेन के हुक्मरान जनता के ज़बरदस्त प्रतिरोध का सामना कर रहे हैं। दूसरे, अगर अमेरिका में सामाजिक ख़र्च (आम जनता पर ख़र्च) में कटौती होती है तो इससे अमेरिकी जनता की क्रय–शक्ति सिकुड़ेगी और अमेरिका में आर्थिक संकट और ज़्यादा गहरायेगा।

कुल मिलाकर देखा जाये तो अमेरिकी साम्राज्यवाद तथा संकटग्रस्त विश्व पूँजीवाद के चौधरियों के पास वर्तमान संकट से उबरने का कोई रास्ता नहीं है। आने वाले दिनों में अमेरिका तथा विश्व पूँजीवाद का संकट और ज़्यादा गहरायेगा। इसके स्पष्ट संकेत अभी से मिल रहे हैं। क्या विश्व सर्वहारा पूँजीवाद के इस संकट को क्रान्तिकारी संकट में बदल पायेगा। एक के बाद एक संकट में फँस रहे और संकटों से उबरने में नाकाम विश्व पूँजीवाद को विश्व सर्वहारा वर्ग उसकी क़ब्र तक कब पहुँचायेगा? इन सवालों के जवाब भविष्य के गर्भ में छुपे हुए हैं। लेकिन इतना तो निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि यह मरणासन्न परजीवी पूँजीवाद मानवता के कन्धों पर एक असहनीय बोझ बन चुका है, और देर–सबेर मानवता अवश्य ही इस बोझ को उतार फेंकेगी। •

ग़रीबों की जान से खेल कर होती है दवाओं की परख

(पेज 5 से आगे)

जिस पर पहले अमेरिकी तथा यूरोपीय डॉक्टरों का एकाधिकार था।

थोड़ा भारत में मेडिकल शिक्षा तथा खोज–कार्यों का स्टैण्डर्ड ऊँचा होने के तर्क की छानबीन भी कर लें। पहली बात तो यह कि इस ऊँचे हो रहे 'स्टैण्डर्ड' का फ़ायदा भी बहुसंख्यक 80 फ़ीसदी आबादी को नहीं होता, तो ऐसे ऊँचे स्टैण्डर्ड का लाभ ही क्या? दूसरी बात क्या वाक़ई ऐसा हो भी रहा है? अगर राष्ट्रीय तथा अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर हो रही चर्चा पर ध्यान दें तो इसका जवाब ना में ही मिलता है। भारत में बहुतेरे मेडिकल कॉलेजों में अध्यापक भी पूरे नहीं हैं तथा पढ़ाई के लिए साज़ो–सामान की ज़बरदस्त कमी है। ऐसे में 'स्टैण्डर्ड' ऊँचा हो भी कैसे सकता है? अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर इन परीक्षणों तथा ट्रायलों की रिपोर्टें शक के घेरे में हैं, क्योंकि भारत जैसे ग़रीब देश में रिकॉर्ड रखने तथा परीक्षण के समय ज़रूरी सावधानियों तथा नियमों की कोई परवाह नहीं की जाती। इस तरह ये परीक्षण न सिर्फ़ ग़रीब जनता को मौत के मुँह में धकेलते हैं, बल्कि विज्ञान की भी ऐसी–तैसी कर देते हैं तथा परीक्षणों पर ख़र्च होने वाले मानवीय संसाधनों को भी बर्बाद करते हैं।

एक नज़र परीक्षणों के बारे में अन्तरराष्ट्रीय नियमावली पर

विश्व स्वास्थ्य एसोसिएशन के हेलसिंकी घोषणापत्र के पैरा 17 के मुताबिक़ – "किसी पिछड़ी हुई आबादी या समुदाय पर होने वाले खोज–कार्य को तभी जायज़ ठहराया जा सकता है, यदि ऐसा खोज–कार्य उस आबादी या समुदाय की स्वास्थ्य सम्बन्धी ज़रूरतों तथा प्राथमिकताओं के मुताबिक़ हो और इस बात की पूरी सम्भावना हो कि खोज–कार्य के नतीजों से उस आबादी या समुदाय को लाभ मिलेगा।" पर इस दिशानिर्देश की सरेआम धज्जियाँ उड़ायी जाती हैं। भारत में होने वाले बहुतेरे ट्रायलों से तो भारत की आम जनता को कोई ख़ास लाभ नहीं होता। अक्सर कम्पनियाँ जिन दवाओं का परीक्षण करती हैं या तो उनकी बहुतेरे भारतीय लोगों को ज़रूरत ही नहीं होती या फिर उनकी क़ीमत इतनी होती है कि बहुसंख्यक भारतीय आबादी उन्हें ख़रीद ही नहीं सकती। हालाँकि कम्पनियों के लिए यह लाज़िमी होता है कि वह परीक्षण के तहत आने वाली आबादी या समुदाय के लिए लोगों की क्रयशक्ति के मुताबिक़ दवा उपलब्ध करवाये, लेकिन ऐसे उद्देश्यों की मुनाफ़े की अन्धी दौड़ में कोई जगह नहीं है। इस व्यवस्था में अन्य तमाम क़ानूनों–उसूलों की तरह यह घोषणापत्र भी एक सफ़ेद हाथी से ज़्यादा कुछ नहीं है। बस कुछ भोली आत्माएँ इन घोषणापत्रों की दुहाई देती रहती हैं तथा मुनाफ़े के तेज़ चलते चक्कों तले रौंदी जा रही मानवता की चीख़–पुकार सरकार और कम्पनियों के झूठे दावों–दिलासों के आगे जाड़ों की ठण्डी रात की चुप्पी की तरह गुम हो जाती हैं।

• डा. अमृत पाल

स्त्री मज़दूरों को साथ लिये बिना मज़दूर आन्दोलन बड़ी जीतें नहीं हासिल कर सकता!

(पेज 7 से आगे)

कि स्त्री मज़दूरों के कारण उनकी मज़दूरी या रोज़गार के अवसरों में कमी आती है।

लेकिन स्त्री मज़दूर अलग–थलग रहकर अपनी माँगों के लिए संघर्ष नहीं कर सकतीं। आज कई एन.जी.ओ. मार्का संगठन भी स्त्री मज़दूरों के बीच सुधार के काम करते हुए इस तरह की कुछ माँगें उठाते रहते हैं। उनके तरीक़ों से स्त्री मज़दूरों को कुछ भी हासिल नहीं होगा। सभी मज़दूरों के साझा सवालों पर साझा संघर्ष में सक्रिय भागीदारी करते हुए ही स्त्री मज़दूर अपनी विशिष्ट माँगों के लिए संघर्ष में पुरुष मज़दूरों को अपने साथ खड़ा कर सकती हैं।

यहाँ एक और बात का भी ज़िक्र ज़रूरी है। बहुत से स्त्री संगठन, जिनमें वाम संगठनों से जुड़े स्त्री संगठन भी शामिल हैं, स्त्री मुक्ति की बात करते हुए जेण्डर आधारित शोषण–उत्पीड़न की बात तो करते हैं लेकिन स्त्री मज़दूरों की विशाल आबादी की विशिष्ट माँगें हाशिये पर रह जाती हैं। उनकी माँगें प्रायः मध्यवर्गीय स्त्रियों की माँगों तक सीमित रहती हैं और उनका नेतृत्व भी मध्यवर्गीय–बौद्धिक स्त्रियों के हाथों में रहता है।

मज़दूर संगठन भी जब अपना कोई विस्तृत माँगपत्रक तैयार करते हैं तो वहाँ भी स्त्री मज़दूरों की विशिष्ट माँगें हाशिये पर चली जाती हैं। इस समस्या का मुक़ाबला स्त्री मज़दूरों को करना ही होगा। इसका एकमात्र समाधान यह है कि वे ट्रेडयूनियन आन्दोलन में भागीदारी बढ़ायें, और साथ ही साथ स्त्री मज़दूरों के स्वतन्त्र संगठन भी खड़े हों। पुरुषों द्वारा उत्पीड़न और पितृसत्तात्मक व्यवस्था के विरुद्ध स्त्रियों के साझा संघर्ष के साथ–साथ स्त्री मज़दूरों को अपने विशिष्ट हितों के लिए भी संगठित होकर लड़ना होगा।

भारत के मज़दूर वर्ग की ओर से शासक वर्गों के समक्ष पेश करने के लिए शुरू किये मज़दूर माँगपत्रक आन्दोलन के पीछे की सोच यही है कि मज़दूर वर्ग इसके इर्द–गिर्द अपने जनवादी अधिकारों को लेकर लड़ने के लिए संगठित हो। अलग–अलग पूँजीपतियों से एक–एक कारख़ाने में लड़ने के बजाय पूरा मज़दूर वर्ग राज्य के सामने अपनी साझा माँगों को रखे। यह देशभर के मज़दूरों को उनकी साझा माँगों पर एकजुट करने की एक लम्बी चलने वाली मुहिम है। यह आन्दोलन अगर असंगठित और अनौपचारिक क्षेत्र में दिहाड़ी और ठेके पर काम करने वाली, घरों पर पीसरेट पर काम करने वाली स्त्री मज़दूरों की भारी आबादी की माँगों को पुरजोर ढंग से नहीं उठाता तो यह अपने लक्ष्य से दूर ही रह जायेगा। इसीलिए इसमें स्त्री मज़दूरों से सम्बन्धित विशेष माँगों को एक अलग शीर्षक के तहत सूचीबद्ध किया गया है। •

माँगपत्रक शिक्षणमाला–8

स्त्री मज़दूर सबसे अधिक शोषित–उत्पीड़ित हैं

उन्हें साथ लिये बिना मज़दूर आन्दोलन बड़ी जीतें नहीं हासिल कर सकता! (दूसरी किश्त)

होड़ में टिके रहने के लिए पूँजीपति हमेशा माल उत्पादन की लागत कम करने की फिराक़ में सस्ते कच्चे माल और सस्ते श्रम की तलाश में लगे रहते हैं। इसी तलाश में 1960 के दशक से ही बहुराष्ट्रीय कम्पनियों ने तीसरी दुनिया के कुछ देशों में कारख़ाने लगाने शुरू कर दिये थे। हांगकांग और ताइवान, फिर मेक्सिको, दक्षिण कोरिया, थाईलैण्ड, सिंगापुर, फ़िलिप्पीन्स आदि देश उनके ठिकाने बने। इन देशों में आम तौर पर ही मज़दूरी काफ़ी कम थी, लेकिन स्त्रियों की मज़दूरी तो और भी कम थी। उत्पादन प्रक्रिया को छोटे–छोटे हिस्सों में बाँटकर सस्ते से सस्ते दामों पर उत्पादन कराने की यह तरक़ीब जल्दी ही दुनिया के पैमाने पर पूँजीवादी विकास की मुख्य रणनीति बन गयी।

1970 के दशक तक नया अन्तरराष्ट्रीय श्रम विभाजन क़ायम हो चुका था। विकसित पूँजीवादी देशों ने सस्ते श्रम की लूट से अपनी लागत कम करने के लिए अपने यहाँ से श्रम–सघन उद्योगों को हटाकर तीसरी दुनिया के देशों में लगाना शुरू कर दिया था। भूमण्डलीकरण के दौर में इसमें और तेज़ी आयी जब तीसरी दुनिया के देशों की सरकारों ने विदेशी कम्पनियों के लिए दरवाज़े पूरे खोल दिये। इन देशों के पूँजीपति वर्ग के लिए ऐसा करने की अपनी मजबूरियाँ थीं। अपने देश की जनता को और लूटने के लिए औद्योगिक विकास तथा बाज़ार के विस्तार के वास्ते उसे विदेशी पूँजी और तकनोलॉजी की ज़रूरत थी। दूसरी ओर, विकसित पूँजीवादी देशों को बढ़ती अन्तरराष्ट्रीय होड़ में टिके रहने के लिए सस्ते श्रम की दरकार थी।

यूरोप के देशों और अमेरिका में स्त्री मज़दूर को एक घण्टे के काम के लिए जितनी मज़दूरी देनी पड़ती है, उससे भी कम पर जब एशिया या लातिनी अमेरिका के किसी देश में पूरे दिन की हाड़तोड़ मेहनत के लिए स्त्री मज़दूर मिल सकती हो, तो कम्पनियाँ इन देशों की ओर भला क्यों न दौड़ लगातीं? 1980 के दशक में एशिया में मलेशिया, थाईलैण्ड, ताइवान से लेकर लातिनी अमेरिका में मेक्सिको, ब्राज़ील, हैती, ग्वाटेमाला, प्वेर्तो रिको आदि देशों में ऐसे कारख़ानों और वर्कशॉपों की भरमार हो गयी जिनमें बर्बर हालात में, बहुत कम मज़दूरी पर लाखों–लाख औरतें बड़ी–बड़ी कम्पनियों के लिए सामान तैयार करने में लगी रहती थीं। छोटे–छोटे पुर्ज़ों को जोड़कर बनने वाले खिलौने, कपड़े, कम्प्यूटर के सामान, आलू चिप्स जैसे सैकड़ों उपभोक्ता वस्तुओं का उत्पादन इन नरक जैसे कारख़ानों में होता था। पिछली सदी के अन्तिम दशक में, नयी आर्थिक नीतियाँ लागू होने के साथ ही भारत भी इन देशों की क़तार में शामिल हो गया।

पहले दौर में, विश्व बैंक, अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा कोष और गैट के दबाव में लागू की गयी "संरचनागत समायोजन" की नीतियों के तहत यह सुनिश्चित किया गया कि पूँजी और श्रम के बीच से सरकार हट जाये और पूँजीपतियों को मनमानी शर्तों पर मज़दूरों से काम कराने, रखने और निकालने की पूरी छूट मिल जाये। मज़दूर आन्दोलन के पीछे हटने और बिखराव ने इस काम को और भी आसान बना दिया। लम्बे समय से अर्थवाद की दलदल में धँसी संशोधनवादियों की ट्रेडयूनियनों के पास मज़दूर अधिकारों पर इन हमलों से लड़ने की ताक़त ही नहीं रह गयी थी। पिछले 10–15 वर्षों के दौरान नवउदारवादी नीतियों पर अन्धाधुँध अमल के दौर में, सरकार ने पूँजी और श्रम के सम्बन्धों के विनियमन से पूरी तरह हाथ खींच लिये और मज़दूरों को पूरी तरह पूँजीपतियों की लूट के हवाले कर दिया।

भारत जैसे देश, जो परम्परागत तौर पर विदेशों में निर्यात के लिए सूती कपड़े, आभूषण, चमड़े के सामान या दस्तकारी के सामानों तक सीमित थे, वे भी अब टुकड़ों में बँटी वैश्विक असेम्बली लाइन का हिस्सा बन गये। देश के भीतर भी बड़े उद्योगों ने उत्पादन का भारी हिस्सा छोटे–छोटे टुकड़ों में बाँटकर छोटे–छोटे कारख़ानों और वर्कशॉपों में कराना शुरू कर दिया, जहाँ ज़्यादातर काम ठेका या पीसरेट पर काम करने वाले मज़दूर करते थे। उत्पादन का ज़्यादा से ज़्यादा काम असंगठित और अनौपचारिक क्षेत्र में स्थानान्तरित कर दिया गया। बड़े उद्योगों में भी अधिकांश काम असंगठित मज़दूरों से कराया जाने लगा। आज देश की कुल मज़दूर आबादी का लगभग 95 प्रतिशत असंगठित या अनौपचारिक क्षेत्र में काम कर रहा है। इन मज़दूरों के लिए किसी भी श्रम क़ानून का कोई मतलब नहीं रह गया है। बेहद कम मज़दूरी पर, बहुत बुरे हालात में वे 10–12 घण्टे तक खटते हैं। उन्हें कभी भी निकाल बाहर किया जा सकता है, अक्सर बेकारी झेलनी पड़ती है और किसी प्रकार की सामाजिक सुरक्षा नहीं हासिल होती।

इनमें भी सबसे निचले पायदान पर स्त्री मज़दूर हैं। उन्हें सबसे कम दामों पर, सबसे निचले दर्जे के, कमरतोड़, आँखफोड़ू और ऊबाऊ कामों में लगाया जाता है। मोबाइल फ़ोन के चार्जर, माइक्रोचिप्स, सिले–सिलाये कपड़ों से लेकर गाड़ियों के सी.एन.जी. किट और प्लास्टिक के सामान बनाने वाले उद्योगों तक में औरतें काम कर रही हैं। घण्टों तक खड़े–खड़े कपड़ों की कटिंग, पुर्ज़ों की वेल्डिंग, बेहद छोटे–छोटे पुर्ज़ों की छँटाई, या फिर पूरे–पूरे दिन झुके हुए बैठकर काग़ज़ की प्लेटों की गिनती, पंखे की जाली की सफ़ाई, पेण्टिंग, पैकिंग, धागा कटिंग, बटन टाँकने, राख में से धातु निकालने जैसे अनगिनत काम बेहद कम दरों पर स्त्री मज़दूरों से कराये जाते हैं। स्त्रियाँ पहले से ही सबसे सस्ती श्रम शक्ति रही हैं जिन्हें जब चाहे धकेलकर बेकारों की रिज़र्व आर्मी में फेंका जा सकता है। आज उनकी स्थिति और भी कमज़ोर हो गयी है।

कृषि और उससे जुड़े ग्रामीण उद्योगों में लगी स्त्रियों की दशा और भी ख़राब है। वहाँ भी सबसे अधिक मेहनत वाले काम बहुत कम मज़दूरी पर औरतें ही करती हैं। कृषि मज़दूरों की माँगों पर चर्चा करते समय हम और विस्तार से इसकी बात करेंगे। घरेलू काम करने वाली लाखों स्त्रियों के शोषण और उनकी माँगों की चर्चा हम घरेलू कामगारों से सम्बन्धित खण्ड में करेंगे। स्त्रियों की एक बहुत बड़ी आबादी सेवा क्षेत्र में निकृष्टतम क़िस्म के कामों में लगा दी गयी है। छोटे व्यापारियों से लेकर बड़े स्टोर तक बादाम और मूँगफली छीलने, दालों की छँटाई–बिनाई करने, काग़ज़ और कपड़े के थैले बनाने आदि से लेकर झाड़ू–पोंछा, पैकिंग आदि अनगिनत काम बहुत कम दरों पर स्त्रियों से कराते हैं। प्राइवेट कम्पनियों के दफ़्तरों, कैण्टीन आदि में भी ठेके पर या पार्ट–टाइम काम करने वाली स्त्री मज़दूरों की अच्छी–ख़ासी आबादी है।

थाईलैण्ड या ताइवान जैसे देशों में कारख़ानों में काम करने वाली 'फ़ैक्ट्री गर्ल' को जो भी थोड़ी–बहुत सुविधाएँ मिल जाती हैं, भारत में अधिकांश स्त्री मज़दूरों को वह भी हासिल नहीं होतीं। भारतीय समाज का पिछड़ापन भी पूँजीपतियों के काम आता है। पुरुष मज़दूर अपने घरों की स्त्रियों को कारख़ाने में जाकर काम करने देने के बजाय बेहतर समझते हैं कि वे पीसरेट पर घर पर ही लाकर कुछ काम कर लें। बहुत कम मज़दूरी मिलने पर भी उन्हें लगता है कि बैठे–बिठाये कुछ अतिरिक्त आमदनी हो गयी, यही बहुत है।

कार्यस्थलों पर भी स्त्रियाँ दोयम दर्जे की नागरिक बनी रहती हैं। कारख़ाने में यूनियन अगर है भी तो उसमें स्त्री मज़दूरों की कोई भागीदारी नहीं होती। यूनियनें भी स्त्री मज़दूरों की विशेष माँगों की ओर ध्यान नहीं देतीं। मज़दूर माँगपत्रक–2011 की जिन माँगों के बारे में हमने इस शिक्षणमाला की पिछली किश्तों में चर्चा की है, वे सभी माँगें सारे मज़दूरों की माँगें हैं और इस नाते स्त्री मज़दूरों की भी माँगें बनती हैं। काम के उचित घण्टे, न्यूनतम मज़दूरी, ठेका मज़दूरी, पीस रेट और कैजुअल मज़दूरी से जुड़ी माँगें, काम करने के हालात और दुर्घटना के उचित मुआवज़े से जुड़ी माँगें तथा प्रवासी मज़दूरों के अधिकारों सम्बन्धी माँगें स्त्री मज़दूरों की भी माँगें हैं। आज अधिकांश परम्परागत यूनियनें इन माँगों को या तो उठाती नहीं या उठाती भी हैं तो उनमें स्त्री मज़दूरों की भागीदारी बहुत कम होती है। स्त्री मज़दूर इन माँगों के लिए संघर्ष में पुरुष मज़दूरों के साथ बढ़–चढ़कर हिस्सा लेंगी तो वे अपनी विशिष्ट माँगों के लिए लड़ाई में साथ देने के लिए भी पुरुष मज़दूरों से हक़ के साथ कह सकती हैं।

स्त्री मज़दूरों से सम्बन्धित विशेष माँगें

मज़दूर माँगपत्रक में स्त्री मज़दूरों के लिए पहली माँग यह की गयी है कि सब एक ही तरह के काम के लिए पुरुष और स्त्री मज़दूरों की मज़दूरी में ग़ैर–बराबरी को ख़त्म किया जाये। इसके लिए 'समान मज़दूरी क़ानून, 1976' को सख़्ती से लागू किया जाये।

इसमें दूसरी माँग यह है कि सभी स्त्री मज़दूरों को, चाहे वह नियमित हों, ठेका, कैजुअल या पीसरेट पर काम करती हों, छह महीने का वेतन सहित मातृत्व अवकाश और नवजात बच्चे के पालन–पोषण के लिए तीन महीने का अवकाश दिया जाये। दिहाड़ी, पीसरेट और कैजुअल मज़दूरों को यह सुविधा देने का ख़र्च सरकार उठाये। इसके लिए उद्योगपतियों पर विशेष टैक्स लगाकर धन का इन्तज़ाम किया जाये। स्तनपान कराने वाली स्त्री मज़दूरों को लंच के अलावा तीन किश्तों में 30 मिनट का अतिरिक्त अवकाश मिलना चाहिए। उल्लेखनीय है कि सरकारी नौकरियों और बड़ी प्राइवेट कम्पनियों में अच्छे पदों पर काम करने वाली स्त्रियों को एक वर्ष के मातृत्व अवकाश के साथ और भी कई तरह की सुविधाएँ मिलती हैं। मध्य वर्ग की स्त्रियों की छोटी–सी आबादी को मिलने वाली सुविधाओं की क़ीमत भारी मेहनतकश आबादी अपनी हड्डियाँ निचुड़वाकर चुकाती है।

माँगपत्रक में अगली माँग यह है कि जहाँ भी पाँच या उससे अधिक स्त्री मज़दूर काम करती हों वहाँ हर 5 बच्चों पर एक प्रशिक्षित दाई और तीन से पाँच वर्ष तक के बच्चों के लिए प्ले वे और नर्सरी शिक्षा की व्यवस्था होनी चाहिए।

गर्भावस्था और बच्चे की देखभाल के कारण बेरोज़गार रहने वाली असंगठित या अनौपचारिक स्त्री मज़दूरों को सरकार से बेकारी भत्ता मिलना चाहिए।

जहाँ भी स्त्री मज़दूर काम करती हैं, वहाँ उनके लिए अलग शौचालय, साफ़–सफ़ाई व आराम करने की जगह का इन्तज़ाम होना चाहिए। स्त्री मज़दूरों के साथ छेड़छाड़ और किसी भी क़िस्म की बदसलूकी पर तुरन्त कठोर कार्रवाई होनी चाहिए। किसी भी स्त्री मज़दूर को रात की पाली में काम करने के लिए मजबूर नहीं किया जाना चाहिए और रात में काम करने वाली स्त्रियों के लिए परिवहन और सुरक्षा की पूरी ज़िम्मेदारी नियोक्ता की होनी चाहिए।

माँगपत्रक में इस बात पर विशेष ज़ोर दिया गया है कि स्त्री मज़दूरों से सम्बन्धित सभी क़ानूनों और नियमों आदि पर अमल तथा इसकी निगरानी के लिए श्रम विभाग में ऊपर से नीचे तक विशेष प्रकोष्ठ होने चाहिए। साथ ही ऐसी निगरानी समितियाँ बनायी जानी चाहिए जिनमें सरकारी अधिकारी, स्त्री मज़दूरों की प्रतिनिधि, स्त्री संगठनों की प्रतिनिधि, मज़दूर संगठनों के प्रतिनिधि और जनवादी अधिकार आन्दोलन के कार्यकर्ता शामिल हों।

माँगपत्रक में अन्तरराष्ट्रीय स्त्री दिवस (8 मार्च) को राष्ट्रीय स्तर पर अवकाश घोषित करने की माँग की गयी है ताकि सभी मेहनतकश और कामकाजी स्त्रियाँ इसे मना सकें। अन्तरराष्ट्रीय स्त्री दिवस मेहनतकश स्त्रियों के संघर्ष से जन्मा है लेकिन पिछले कुछ वर्षों से इसे लगातार विकृत करने और इसकी क्रान्तिकारी विरासत पर परदा डालने की कोशिश की जा रही है। यह सबसे बढ़कर मज़दूर स्त्रियों के संघर्ष और आज़ादी का प्रतीक है।

स्त्री मज़दूरों की इन विशेष माँगों को ज़्यादातर यूनियनें उठाती ही नहीं हैं। अगर कहीं इनमें से कुछ माँगें आगे की भी जाती हैं तो उन पर कभी ज़ोर नहीं दिया जाता। अधिकांश पुरुष मज़दूरों की यह मानसिकता है कि वे घरेलू काम का तो कोई मोल ही नहीं समझते, औरतों द्वारा किये जाने वाले उत्पादन के काम का जो भी मोल मिल जाये उसे अतिरिक्त आय मानकर सन्तुष्ट हो जाते हैं। कार्यस्थल पर स्त्री मज़दूरों की समस्याओं की ओर उनका ध्यान ही नहीं जाता। अक्सर कई पुरुष मज़दूर ख़ुद ही स्त्रियों के उत्पीड़न और छेड़छाड़ में भागीदार बनते हैं या उसका मज़ा लेते हैं। यह मज़दूर आन्दोलन के भीतर सतत् सांस्कृतिक काम की माँग करता है। पुरुष मज़दूरों को यह समझना होगा कि आधी आबादी अगर ग़ुलाम बनी रहेगी तो वे भी आज़ाद नहीं हो सकेंगे। स्त्री मज़दूरों की जुझारू आबादी को साथ लिये बिना कोई भी मज़दूर आन्दोलन कभी बड़ी जीतें हासिल नहीं कर सका है। उन्हें इस ग़लत सोच से भी मुक्ति पानी होगी

(पेज 6 पर जारी)

तृतीय अरविन्द स्मृति संगोष्ठी की रिपोर्ट

सत्ता के बढ़ते दमन और जनता के मूलभूत अधिकारों के बढ़ते हनन के विरुद्ध व्यापक आधार वाला एकजुट जनवादी अधिकार आन्दोलन खड़ा करना आज समय की माँग है!

तृतीय अरविन्द स्मृति संगोष्ठी
22-23-24 जुलाई, 2011 लखनऊ (उ.प्र.)
विषय -
भारत में जनवादी अधिकार आन्दोलन :
दिशा, समस्याएँ, और चुनौतियाँ
अरविन्द स्मृति न्यास

संगोष्ठी का उद्घाटन सत्र, न्यायमूर्ति राजिन्दर सच्चर, प्रो. दीपांकर चक्रवर्ती, डॉ. महेश मास्के, देशभर से आये भागीदार

पिछली 22 से 24 जुलाई तक लखनऊ में 'भारत में जनवादी अधिकार आन्दोलन : दिशा, समस्याएँ और चुनौतियाँ' विषय पर तीसरी अरविन्द स्मृति संगोष्ठी का आयोजन किया गया। उत्तर प्रदेश संगीत नाटक अकादमी के हॉल में अरविन्द स्मृति न्यास द्वारा आयोजित संगोष्ठी में तीन दिनों तक हुई गहन चर्चा के दौरान देशभर से आये प्रमुख जनवादी अधिकार संगठनों के प्रतिनिधियों, कार्यकर्ताओं, न्यायविदों, सामाजिक कार्यकर्ताओं और बुद्धिजीवियों के बीच इस बात पर आम सहमति बनी कि सत्ता के बढ़ते दमन-उत्पीड़न और जनता के मूलभूत अधिकारों के हनन की बढ़ती घटनाओं के विरुद्ध एक व्यापक तथा एकजुट जनवादी अधिकार आन्दोलन खड़ा करना आज समय की माँग है। आज देश में उदारीकरण-निजीकरण की नीतियों के तहत हो रहे विकास का रथ आम जनता के मूलभूत अधिकारों को रौंदता हुआ बढ़ रहा है। आतंक के विरुद्ध युद्ध के नाम पर देश के कई क्षेत्रों में जनता के विरुद्ध सरकार का आतंकवादी युद्ध जारी है। सामाजिक-राजनीतिक जीवन में जनवाद का स्पेस कम होता जा रहा है। दूसरी ओर, जनवादी अधिकार संगठनों की संख्या बढ़ने के बावजूद इन हमलों का प्रभावी प्रतिरोध नहीं हो पा रहा है। ऐसे में, एक व्यापक आधार वाले तथा एकजुट जनवादी अधिकार आन्दोलन के लिए मिलकर प्रयास करने की ज़रूरत है।

संगोष्ठी में देश के प्रमुख जनवादी अधिकार संगठनों के वरिष्ठ प्रतिनिधियों और कार्यकर्ताओं के अलावा जनवादी अधिकार आन्दोलन में सक्रिय न्यायविदों, सामाजिक कार्यकर्ताओं, पत्रकारों, लेखकों-बुद्धिजीवियों, संस्कृतिकर्मियों, मज़दूर कार्यकर्ताओं तथा छात्र-युवा संगठनकर्ताओं ने बड़ी संख्या में भाग लिया। देश के विभिन्न हिस्सों से आये प्रतिनिधियों के अलावा नेपाल और श्रीलंका से आये गणमान्य बुद्धिजीवियों तथा वरिष्ठ राजनीतिक कार्यकर्ताओं ने भी संगोष्ठी में भागीदारी की।

यह संगोष्ठी साथी अरविन्द की स्मृति में हर वर्ष आयेजित की जाने वाली वार्षिक संगोष्ठियों की तीसरी कड़ी थी। पहली अरविन्द स्मृति संगोष्ठी जुलाई 2009 में दिल्ली में और दूसरी संगोष्ठी जुलाई 2010 में गोरखपुर में हुई थी। ये दोनों संगोष्ठियाँ भूमण्डलीकरण के दौर में मज़दूर आन्दोलन की दिशा, सम्भावनाओं, समस्याओं और चुनौतियों पर केन्द्रित थीं। 24 जुलाई को साथी अरविन्द की तीसरी पुण्यतिथि थी। साथी अरविन्द सच्चे अर्थों में जनता के आदमी थे। मात्र 44 वर्ष की उम्र उन्हें मिली जिसमें से 24 वर्षों के सक्रिय राजनीतिक जीवन में उन्होंने छात्रों-नौजवानों, ग्रामीण मज़दूरों और औद्योगिक मज़दूरों के बीच काम किया तथा 'दायित्वबोध' जैसी सैद्धान्तिक पत्रिका, 'नौजवान' और 'आह्वान' जैसी छात्रों-युवाओं की पत्रिका और मज़दूर अख़बार 'बिगुल' का सम्पादन किया। दिल्ली और उत्तर प्रदेश उनके मुख्य कार्यक्षेत्र रहे और कुछ समय उन्होंने हरियाणा और पंजाब में भी दिया। दिल्ली में मज़दूरों के बीच काम करने के दौरान जनवादी अधिकार आन्दोलन में भी उनकी सक्रिय भागीदारी रही और जनवादी अधिकारकर्मियों के साथ उनके घनिष्ठ सम्पर्क बने रहे।

साथी अरविन्द की तस्वीर पर माल्यार्पण के बाद विहान सांस्कृतिक मंच के साथियों ने कुछ क्रान्तिकारी गीत प्रस्तुत किये और उसके बाद संगोष्ठी की शुरुआत हुई।

स्वागत वक्तव्य

'अरविन्द स्मृति न्यास' की प्रबन्ध न्यासी और कॉ. अरविन्द की जीवनसाथी मीनाक्षी ने अपने स्वागत वक्तव्य में कहा कि यह न्यास कॉ. अरविन्द की स्मृति को संकल्प में ढालने का एक विनम्र साझा प्रयास है। उन्होंने कहा कि इस बार की संगोष्ठी के विषय-निर्धारण के पीछे हमारी कुछ गहन-गम्भीर चिन्ताएँ और सामयिक सरोकार काम कर रहे थे। विकास की नीतियों से हो रहे विनाश के ख़िलाफ़ उठने वाली हर आवाज़ को दबाने के लिए सत्तातन्त्र अधिकाधिक निरंकुश तरीक़े अपना रहा है। विस्थापन और बेदख़ली के आँकड़ों और प्रभावित लोगों के प्रतिरोधों को कुचलने के तथ्यों पर यदि निगाह डालें तो लगता है मानो ये गृहयुद्ध जैसी स्थिति के तथ्य और आँकड़े हों। जनप्रतिरोधों को भी आतंकवाद कहकर कुचलने की साज़िशें रची जाती हैं। हमने इसे प्रत्यक्ष अनुभव किया है। पिछले दो वर्षों के दौरान गोरखपुर के मज़दूर आन्दोलन को कुचलने के लिए मालिक-प्रशासन-नेताशाही के गँठजोड़ द्वारा लगातार प्रचारित किया गया कि नेतृत्व देने वाले कुछ बाहरी लोग हैं जो माओवादी आतंकवादी हैं। हाल के वर्षों में दिल्ली के आसपास के और देश के कई अन्य औद्योगिक क्षेत्रों में दमन की अनेक बर्बर घटनाएँ घटी हैं। राजद्रोह जैसे औपनिवेशिक काले क़ानून से लेकर ए.एफ़.एस.पी.ए. और छत्तीसगढ़ विशेष जन सुरक्षा क़ानून तक दर्जनों ऐसे क़ानून हैं जिन पर लगातार सवाल उठते रहे हैं। आर्थिक कट्टरपन्थ की नीतियों ने धार्मिक-नस्ली-जातीय कट्टरपन्थ के लिए उर्वर ज़मीन तैयार की है। समाज का रहा-सहा जनवादी स्पेस भी विगत दो दशकों के दौरान तेज़ी से सिकुड़ा है और कमज़ोर तबक़ों पर इसका सर्वाधिक प्रभाव पड़ा है। सामाजिक ताने-बाने में जाति और जेण्डर के आधार पर मौजूद रही निरंकुश उत्पीड़क प्रवृत्तियों को पूँजी की नयी मानवद्रोही संस्कृति ने नयी ताक़त और नये रूप देने का काम किया है।

मीनाक्षी ने कहा कि यह जनवादी अधिकार आन्दोलन के लिए आत्ममन्थन और विचार-विमर्श का समय है। एक बुनियादी सवाल यह है कि क्या जनवादी अधिकार आन्दोलन को व्यापक जन भागीदारी और व्यापक सामाजिक आधारवाले एक आन्दोलन के रूप में ढालने की ज़रूरत नहीं है? दूसरा सवाल यह है कि क्या कम से कम कुछ ज्वलन्त मुद्दों पर देशभर के जनवादी अधिकार संगठन एकजुट होकर आवाज़ उठाने और दबाव बनाने का काम नहीं कर सकते? तीसरी बात यह है कि जनवादी अधिकारों का सवाल केवल राज्यसत्ता के दमनकारी व्यवहार और काले क़ानूनों से ही नहीं जुड़ा है। धार्मिक कट्टरपन्थ की राजनीति, धार्मिक अल्पसंख्यकों के अलगाव, दलितों और स्त्रियों के उत्पीड़न जैसे मुद्दे भी जनवादी अधिकार और नागरिक आज़ादी के सवाल से जुड़े हुए हैं। उन्होंने स्पष्ट किया कि तीन दिनों की इस संगोष्ठी में हम किसी निर्णय तक पहुँच जायें, यह न अपेक्षित है न आवश्यक। हाँ, संवाद ज़रूरी है। हम मिल-बैठकर सोचेंगे तो कुछ क़दम आगे ज़रूर बढ़ेंगे और फिर आगे की दिशा भी स्पष्ट होती जायेगी।

पहला दिन – चार आलेखों की प्रस्तुति और उन पर चर्चा

संगोष्ठी के पहले सत्र में भारतीय संविधान एवं लोकतान्त्रिक प्रणाली में निहित जनवाद पर चर्चा केन्द्रित रही। पुणे से आये आनन्द सिंह ने अपने आलेख "भारतीय संविधान और भारतीय लोकतन्त्र : किस हद तक जनवादी" में कहा कि संविधान को एक "पवित्र" ग्रन्थ बनाकर प्रश्नों से परे करना भी एक ग़ैर-जनवादी 'अप्रोच' है। जनवाद का तकाज़ा तो यह है कि भारतीय लोकतन्त्र एवं इसकी विभिन्न संस्थाओं में पिछले छह दशकों के दौरान आये क्षरण की विवेचना के साथ ही इस बात पर भी खुली बहस हो कि भारतीय संविधान के निर्माण की प्रक्रिया किस हद तक जनवादी थी एवं भारतीय संविधान किस हद तक नागरिकों के अधिकारों की गारण्टी देता है। सच तो यह है कि संविधान निर्माण की प्रक्रिया ग़ैर-जनवादी थी और व्यापक जनता की भावनाओं-आकांक्षाओं का इसमें प्रतिनिधित्व नहीं था। संविधान तथा क़ानून व्यवस्था के अधिकांश ढाँचे पर आज भी औपनिवेशिक प्रभाव बना हुआ है। सभी औपनिवेशिक तथा काले क़ानूनों एवं राज्य की जनविरोधी कार्रवाइयों के ख़िलाफ़ देशव्यापी स्तर पर जनान्दोलन खड़े करने के साथ ही मौजूदा केन्द्रीकृत, अपारदर्शी एवं जनविरोधी संस्थाओं के विकल्प भी तलाशने होंगे। बड़े निर्वाचकमण्डलों के बजाय छोटे-छोटे निर्वाचक मण्डलों के आधार पर बहुसंस्तरीय चुनाव प्रणाली एवं निर्वाचित सदस्यों को वापस बुलाने के अधिकार के बारे में भी सोचना होगा। जनवादी अधिकार आन्दोलन को सार्विक वयस्क मताधिकार के आधार पर नयी संविधान सभा बुलाये जाने की माँग को भी अपने एजेण्डे पर रखना होगा।

नेपाल से आये वरिष्ठ लेखक एवं नेपाल कम्युनिस्ट पार्टी (माओवादी) के पोलित ब्यूरो सदस्य निनू चपागाईं ने नेपाल में जारी संविधान निर्माण की प्रक्रिया की चर्चा करते हुए कहा कि संविधान को व्यापक जनसमुदाय के हितों की सेवा व हिफ़ाज़त करनी चाहिए। पीयूसीएल के उपाध्यक्ष चितरंजन सिंह ने कहा कि भारतीय संविधान की अन्तर्वस्तु में निरंकुशता के बीज निहित हैं और यही विभिन्न काले क़ानूनों के रूप में फलीभूत होकर सामने आते हैं। उन्होंने नयी संविधान सभा बुलाने की माँग का समर्थन करते हुए कहा कि इस मुद्दे पर जनमत संग्रह कराया जा सकता है। इस विषय पर चर्चा में 'आह्वान' पत्रिका के सम्पादक अभिनव, लखनऊ विश्वविद्यालय के डॉ. रमेश दीक्षित, बलिया के किसान आन्दोलन से जुड़े अवधेश सिंह, भाकपा (माले) के बृजबिहारी, दिल्ली मेट्रो कामगार यूनियन के प्रेमप्रकाश, सोनीपत से आये परिमल कुमार तथा कोलकाता से आये भास्कर सूर ने भाग लिया। पहले सत्र की अध्यक्षता विस्थापन विरोधी जनविकास आन्दोलन, महाराष्ट्र के शिरीष मेढ़ी, श्री निनू चपागाईं और श्री चितरंजन सिंह ने की।

संगोष्ठी के दूसरे सत्र में तीन आलेख प्रस्तुत किये गये तथा उनमें उठाये गये मुद्दों पर विस्तृत चर्चा हुई। इलाहाबाद से आये प्रसेन ने "जनवादी अधिकारों के लिए आन्दोलन और मज़दूर वर्ग" शीर्षक अपने आलेख में कहा कि आर्थिक धरातल पर मज़दूर वर्ग का जो भी टकराव होता है, वह पूँजी की लूट और पूँजीवादी सत्ता से होता है, हालाँकि वह पूँजी की सत्ता को उखाड़ फेंकने के लिए नहीं, बल्कि अपने आसन्न हितों के लिए तथा पूँजी के चौतरफ़ा हमलों से आत्मरक्षा के लिए लड़ता है। साथ ही, मज़दूर वर्ग को रोज़-रोज़, क़दम-क़दम पर, अपने जनवादी अधिकारों को लेकर लड़ने की ज़रूरत पड़ती है। जनवादी अधिकारों की यह लड़ाई मज़दूर वर्ग के लिए आज बेहद ज़रूरी इसलिए भी हो गयी है कि लम्बे संघर्षों से जो अधिकार उसने हासिल किये थे, वे भी आज, मज़दूर आन्दोलन के उलटाव-बिखराव के दौर में उससे छिन चुके हैं। मज़दूरों को पूँजी की सत्ता और पूँजीवादी आर्थिक सम्बन्धों के विरुद्ध लड़ना होगा, लेकिन वे यदि अपने जनवादी अधिकारों के लिए नहीं लड़ सकते तो पूँजीवाद के विरुद्ध

(पेज 9 पर जारी)

व्यापक आधार वाला एकजुट जनवादी अधिकार आन्दोलन खड़ा करना आज के समय की माँग है!

(पेज 8 से आगे)

राजनीतिक–आर्थिक संघर्ष भी नहीं कर सकते। इसी बात को यूँ भी कहा जा सकता है कि जनवादी अधिकार आन्दोलन को व्यापक जनान्दोलन बनाने के लिए शहरों और गाँवों के मज़दूर वर्ग के जनवादी अधिकारों की माँगों को मुद्दा बनाने की और अपनी इन माँगों को लेकर संघर्ष करने के लिए ख़ुद मज़दूर वर्ग को जागृत, गोलबन्द, और संगठित करने की ज़रूरत है।

दिल्ली से आये जय पुष्प ने “जनवादी अधिकार आन्दोलन के सामाजिक–सांस्कृतिक कार्यभार” शीर्षक अपने आलेख में कहा कि समाज में जनवादी अधिकारों का दमन और अतिक्रमण सिर्फ़ राज्यसत्ता ही नहीं करती है बल्कि वे प्राक् पूँजीवादी मूल्य, मान्यताएँ और संस्थाएँ भी करती हैं जिनके आधार अतर्कपरकता, असमानता, अन्धविश्वासों–पूर्वाग्रहों, और मध्ययुगीन प्रथाओं में मौजूद होते हैं। भारत जैसे उत्तरऔपनिवेशिक–कृषिप्रधान देश के सामाजिक ताने–बाने में आज भी ऐसी संस्थाएँ और संस्कार मौजूद हैं और मूल्यों–मान्यताओं की ऐसी संरचनाएँ मौजूद हैं जो सामाजिक जीवन के हरेक क्षेत्र में एक बड़ी आबादी को दमन, अन्याय, उत्पीड़न और अपमान का शिकार बनाती हैं। जनवादी अधिकार आन्दोलन को आम जनता की रोज़मर्रा की ज़िन्दगी में क़दम–क़दम पर जनवादी अधिकारों के हनन के ख़िलाफ़ एक व्यापक जनाधार वाला आन्दोलन होना चाहिए और इसे एक व्यापक सामाजिक–सांस्कृतिक आन्दोलन भी होना चाहिए।

सौरभ बनर्जी ने “विस्थापन, बेदख़ली और जनवादी अधिकारों का सवाल” शीर्षक अपने आलेख में विस्थापन और बेदख़ली की समस्या को जनवादी अधिकार आन्दोलन से जोड़कर देखने की और संघर्ष की रणनीति तय करने पर चर्चा की। विकास की प्राथमिकताओं और विस्थापितों के पुनर्वास सम्बन्धी राज्य की नीतियों के विरुद्ध संघर्ष के साथ ही आम जनता को उसके अधिकारों के बारे में शिक्षित और जागरूक बनाना जनसंगठनों, बुद्धिजीवियों और इंसाफ़पसन्द नागरिकों के लिए एक बड़ी चुनौती है।

तीनों आलेखों पर हुई चर्चा में एसोसिएशन फ़ॉर द प्रोटेक्शन ऑफ़ डेमोक्रेटिक राइट्स के उपाध्यक्ष तथा प्रसिद्ध बंगला पत्रिका ‘अनीक’ के सम्पादक प्रो. दीपांकर चक्रवर्ती, चितरंजन सिंह, अभिनव, प्रसेन, आनन्द आदि ने भाग लिया। दूसरे सत्र की अध्यक्षता श्रीलंका के पेरीदेनिया विश्वविद्यालय के प्रोफ़ेसर कलिंग ट्यूडर सिल्वा, श्री दीपांकर चक्रवर्ती और उत्तर प्रदेश पीयूसीएल की महासचिव वन्दना मिश्र ने की।

दूसरे सत्र के समापन के बाद आयोजित सांस्कृतिक कार्यक्रम में सांस्कृतिक टोली विहान की ओर से चीले के शहीद क्रान्तिकारी कवि और गायक विक्तोर खारा की याद में कुछ गीत प्रस्तुत किये गये।

आधार आलेख और उस पर हुई विस्तृत चर्चा

दूसरे दिन के पहले सत्र में राहुल फ़ाउण्डेशन की अध्यक्ष कात्यायनी ने संगोष्ठी का आधार लेख “जनवादी अधिकार आन्दोलन के संगठनकर्ताओं और कार्यकर्ताओं के विचारार्थ कुछ बातें” प्रस्तुत किया। अपने विस्तृत आलेख में कात्यायनी ने कहा कि भारत में 1970 के दशक में, विशेषकर आपातकाल के दिनों के अनुभव ने एक व्यावहारिक एवं अपरिहार्य आवश्यकता के रूप में जनवादी अधिकार आन्दोलन को शक्ति एवं संवेग प्रदान किया था। आगे चलकर राजकीय दमन तन्त्र के विरुद्ध, विशेषकर राजनीतिक विरोध के दमन के विरुद्ध जाँच–पड़ताल रिपोर्ट, ज्ञापन, याचिका, धरना–प्रदर्शन आदि के माध्यम से अनुष्ठानिक ढंग से गतिविधियों की निरन्तरता जनवादी अधिकार आन्दोलन की दिनचर्या बनी रही। भारतीय राज्यतन्त्र की संरचना, सामाजिक ताने–बाने और नवउदारवादी आर्थिक नीतियों के विश्लेषण के आधार पर, आज जनवादी अधिकार आन्दोलन को नये सिरे से ‘कंसेप्चुअलाइज़’ करना होगा। जनवादी एवं नागरिक अधिकारों के आन्दोलन को शहरी बुद्धिजीवियों के सीमित दायरे और ‘ज्ञापन–प्रतिवेदन–याचिका’ की रुटीनी क़वायद से बाहर निकालकर व्यापक आम आबादी (जिसका मुख्य हिस्सा शहरों–गाँवों की मेहनतकश आबादी होती है) तक ले जाना होगा और उसे एक व्यापक जनान्दोलन की शक्ल देनी होगी। जनवादी अधिकार आन्दोलन का सर्वोपरि कार्यभार यह बनता है कि वह व्यापक जनसमुदाय को नागरिक आज़ादी और जनवादी अधिकारों के प्रश्न पर हर सम्भव माध्यम से शिक्षित करे, लामबन्द करे और संगठित करे। इन मुद्दों पर प्रचार एवं उद्वेलन का एक लम्बा सिलसिला चलाना होगा।

कात्यायनी ने कहा कि जनवादी अधिकार आन्दोलन का घोषणापत्र किसी आमूलगामी सामाजिक क्रान्ति का उद्घोष नहीं होता। इसका दायरा उन जनवादी माँगों और नागरिक आज़ादी की माँगों के लिए संघर्ष तक सीमित होता है जिनका वायदा ‘स्वतन्त्रता–समानता–भ्रातृत्व’ के नारे के साथ प्रबोधनकाल के दार्शनिकों और जनवाद के क्लासिकी सिद्धान्तकारों ने किया था और दुनिया के अधिकांश बुर्जुआ जनवादी देशों के संविधान कम से कम काग़ज़ी तौर पर जिन्हें स्वीकार करते हैं। इन अधिकारों के लिए लड़ते हुए संगठित जनशक्ति राज्यसत्ता पर दबाव बनाकर कुछ जनवादी ‘स्पेस’ और नागरिक आज़ादी हासिल भी कर लेती है और इस तरह अपनी संगठित शक्ति की ताक़त पहचानती है। अपने संगठित संघर्षों द्वारा जनता जो जनवादी ‘स्पेस’ और जो उन्नत जनवादी चेतना हासिल करती है उसके आधार पर वह अपने बुनियादी अधिकारों का संघर्ष और उन्नत धरातल पर संगठित करती है। लेकिन यदि कोई जनवादी अधिकार संगठन पहले से ही यह घोषित कर दे कि चूँकि बुर्जुआ जनवाद जनता को वास्तविक जनवाद दे ही नहीं सकता, अतः जनवादी अधिकार के लिए संघर्ष का एकमात्र मतलब है क्रान्तिकारी व्यवस्था परिवर्तन के लिए संघर्ष, तो यह जनता की चेतना से काफ़ी आगे की बात उस पर थोपने वाला तथा बुर्जुआ क़ानूनी दायरे के भीतर संघर्ष के द्वारा सीखने की सम्भावनाओं की उपेक्षा करने वाला संकीर्णतावाद और हरावलपन्थ होगा। ऐसी संकीर्णतावादी हरावलपन्थी प्रवृत्तियाँ जनवादी अधिकार आन्दोलन के संयुक्त मोर्चे के दायरे को संकुचित कर देंगी और उसे गम्भीर नुक़सान पहुँचायेंगी।

उन्होंने कहा कि राजनीतिक आन्दोलनों पर दमन का प्रतिकार संगठित करना और बन्दी मुक्ति आन्दोलन जैसे काम बेहद ज़रूरी काम हैं। आतंकवाद की आड़ में जनता के विरुद्ध सरकार का युद्ध और राजकीय दमन पहले से ही एक ज्वलन्त सवाल रहा है। आने वाले दिनों में इसकी व्यापकता और सघनता और अधिक बढ़ने वाली है। लेकिन जनवादी अधिकार आन्दोलन को यदि सघन एवं संगठित, सतत एवं सुदीर्घ, प्रचार और उद्वेलन की कार्रवाई के द्वारा व्यापक जनान्दोलन का स्वरूप नहीं दिया जायेगा, यदि प्रबुद्ध बुद्धिजीवियों के सीमित दायरे से बाहर लाकर उसके सामाजिक आधार के विस्तार की कोशिश नहीं की जायेगी, तो देश के इस या उस कोने की जनता पर होने वाले राजकीय दमन की घटनाओं को व्यापक जनसमुदाय की निगाहों में नहीं लाया जा सकेगा और उन्हें व्यापक जन–प्रतिरोध का मुद्दा नहीं बनाया जा सकेगा।

एक महत्त्वपूर्ण सवाल उठाते हुए कात्यायनी ने कहा कि राजनीतिक आन्दोलनों में सक्रिय मध्यवर्गीय बौद्धिक पृष्ठभूमि के लोगों और थोड़ी अच्छी सामाजिक हैसियत वाले बुद्धिजीवी समर्थकों एवं हमदर्दों की गिरफ़्तारी और दमन–उत्पीड़न के मुद्दों को जिस ज़ोर–शोर के साथ उठाया जाता है, उतनी ही शिद्दत के साथ निम्नतर वर्ग–पृष्ठभूमि से आने वाले कार्यकर्ताओं और समर्थकों की गिरफ़्तारी और दमन–उत्पीड़न को, या आन्दोलनों में भागीदारी करने वाली व्यापक आम आबादी के दमन–उत्पीड़न को मुद्दा नहीं बनाया जाता। ऐसे में वस्तुपरक होकर इस बात की भी पड़ताल करनी होगी कि लगातार मध्यवर्गीय ‘पैस्सिव रैडिकलिज़्म’ की चौहद्दी में सिमटे रहने के कारण जनवादी अधिकार आन्दोलन में भी कहीं किसी क़िस्म का वर्ग–पूर्वाग्रह तो नहीं पैदा हो गया है?

विगत लगभग दो दशकों के दौरान, जनवादी अधिकार आन्दोलन की रही–सही ताक़त और प्रभाविता का भी लगातार क्षरण–विघटन हुआ है। इसके कारण “भारतीय ख़ुशहाल मध्यवर्ग के ऐतिहासिक विश्वासघात” में ढूँढ़े जा सकते हैं। जनवादी अधिकार आन्दोलन का मुख्य आधार शहरी मध्यवर्ग के रैडिकल जनवादी हिस्से में सिमटा रहा है (इनमें विश्वविद्यालयों के प्राध्यापक, वकील, मीडियाकर्मी व अन्य स्वतन्त्र ‘प्रोफ़ेशनल्स’ शामिल हैं)। विगत कुछ दशकों में पूँजीवादी विकास के साथ इस शहरी मध्यवर्ग के एक बड़े हिस्से की हैसियत और जीवन–स्तर में बढ़ोत्तरी हुई, तीन–चौथाई ग़रीब आबादी के जीवन से उसकी दूरी बहुत अधिक बढ़ी है और वह एक विशेषाधिकार प्राप्त अल्पसंख्यक उपभोक्ता समुदाय बन चुका है। ऐसे में, जनवादी अधिकार आन्दोलन को एक व्यापक और जुझारू जनान्दोलन की शक्ल देने के लिए मुख्य तौर पर निम्नमध्यवर्ग से आने वाले उन रैडिकल बुद्धिजीवियों की नयी पीढ़ी पर भरोसा करना होगा जो नवउदारवाद के वर्तमान दौर में आम मेहनतकशों की ही तरह असुरक्षा और अनिश्चितता के भँवर में धकेल दिये गये हैं और काफ़ी हद तक उन जैसा ही जीवन जीने को मजबूर हैं। व्यापक जनाधार पर जनवादी अधिकार आन्दोलन के संगठित होने की प्रक्रिया जब गति पकड़ लेगी तो आम मेहनतकश जमातों के बीच से भी उनके ‘ऑर्गेनिक’ बौद्धिक तत्व आगे आयेंगे और नेतृत्वकारी भूमिका निभायेंगे।

जनवादी अधिकार आन्दोलन के सामाजिक–सांस्कृतिक कार्यभारों की चर्चा करते हुए कात्यायनी ने कहा कि भारतीय समाज में सामाजिक–सांस्कृतिक मूल्यों–मान्यताओं–संस्थाओं–सम्बन्धों में जनवाद और तर्कणा बस नाममात्र को ही हैं। पूँजीवादी आधुनिक “बर्बरता” के साथ प्राक्पूँजीवादी निरंकुश स्वेच्छाचारिता भी सामाजिक ताने–बाने के रेशे–रेशे में मौजूद है। केवल राज्य और नागरिक के बीच के रिश्ते में ही नहीं, नागरिक और नागरिक के रिश्ते में भी दमन, असमानता और अपमानजनक पार्थक्य विविध रूपों में मौजूद हैं। यह स्थिति निरकुंश दमनकारी राज्य मशीनरी के विरुद्ध व्यापक जनएकजुटता के निर्माण के रास्ते की बहुत बड़ी बाधा है। बर्बर जातिवादी मूल्यों–संस्थाओं, पुरुषवर्चस्ववादी मूल्यों–संस्थाओं और धार्मिक अन्धविश्वासों–पूर्वाग्रहों के विरुद्ध व्यापक और जुझारू सामाजिक–सांकृतिक मुहिम चलाये बिना नागरिक आज़ादी और जनवादी अधिकारों की बात करना बेमानी है। जनवादी अधिकार आन्दोलन को सिर्फ़ राजकीय निरकुंशता को ही नहीं सामाजिक–सांस्कृतिक निरंकुशता को भी निशाना बनाना होगा। हमें दलित उत्पीड़न, अन्य प्रकार के जातिगत उत्पीड़न एवं वैमनस्य, जाति आधारित चुनावी राजनीति, स्त्री–उत्पीड़न, पुरुषवर्चस्ववाद के विविध रूपों, धार्मिक कट्टरपन, अन्धविश्वास एवं पूर्वाग्रहों के विरुद्ध भी व्यापक प्रचार एवं शिक्षा–अभियान भी चलाने होंगे। कात्यायनी ने कहा कि साम्प्रदायिक फ़ासीवाद, विशेष तौर पर हिन्दुत्ववादी धार्मिक कट्टरपन्थ के विरुद्ध जनवादी अधिकार आन्दोलन को प्रभावी बनाने की ज़रूरत है, लेकिन व्यापक जनपहलक़दमी और जनलामबन्दी के बिना इन शक्तियों का कारगर ढंग से मुक़ाबला नहीं किया जा सकता। बुनियादी जनवादी अधिकारों को लेकर व्यापक मेहनतकश जनता के आन्दोलन संगठित करने के साथ–साथ यदि धार्मिक पूर्वाग्रहों और साम्प्रदायिकता के विरुद्ध निरन्तर जुझारू सामाजिक अभियान चलाये जायें तभी धार्मिक कट्टरपन्थ का प्रभावी मुक़ाबला किया जा सकता है।

जनता की रोज़मर्रा की ज़िन्दगी के बुनियादी मसलों पर जनवादी अधिकार आन्दोलन को तृणमूल स्तर से जनदबाव की एक नयी राजनीति का तानाबाना बुनना होगा। पौष्टिक भोजन, आवास, स्वास्थ्य, शिक्षा और आजीविका के बुनियादी जनवादी अधिकारों को मुद्दा बनाते हुए, इनसे जुड़े छोटे–छोटे स्थानीय सवालों को उठाते हुए तथा पुलिसिया दमन–उत्पीड़न, विस्थापन, जबरिया बेदख़ली आदि समय–समय पर जगह–जगह उठने वाले मुद्दों को हाथ में लेते हुए जन–सत्याग्रह, ‘घेरा डालो डेरा डालो’, नागरिक असहयोग आन्दोलन, करबन्दी, चुनावी नेताओं के बहिष्कार आन्दोलन जैसे जनान्दोलनों के रूप अपनाने होंगे। इस प्रक्रिया में लोक पंचायतों, लोक परिषदों, लोक निगरानी समितियों, चौकसी दस्तों जैसे नये–नये लोक प्लेटफ़ॉर्म और संस्थाएँ सृजित हो सकती हैं जो जनता की सामूहिक पहलक़दमी और निर्णय क्षमता को प्रकट कर सकती हैं और आन्दोलन के नेतृत्व को भी निरन्तर जवाबदेही एवं निगरानी के दायरे में बनाये रख सकती हैं। इस तरह जनवादी अधिकार आन्दोलन को नीचे से जनवादी संस्थाओं के विकास का एक देशव्यापी आन्दोलन भी बनाया जा सकता है।

अन्त में कात्यायनी ने अपनी बातों को समेटते हुए तीन केन्द्रीय मुद्दों को रेखांकित किया। पहला, जनवादी अधिकार आन्दोलन को जनवादी चेतना वाले बुद्धिजीवियों के आन्दोलन के बजाय व्यापक सामाजिक आधार वाले जनान्दोलन के रूप में संगठित करना होगा तथा व्यापक जनता के बुनियादी जनवादी अधिकारों को इसके संघर्ष के एजेण्डा पर लाना होगा। दूसरा, जनवादी अधिकारों का अपहरण करने वाली सामाजिक संस्थाओं–मूल्यों–मान्यताओं के विरुद्ध व्यापक जनजागरूकता मुहिम चलाना भी जनवादी अधिकार आन्दोलन का कार्यभार होना चाहिए। तीसरा, राज्यसत्ता के बढ़ते दमनकारी रुख़ के प्रभावी प्रतिकार के लिए जनवादी अधिकार आन्दोलन की बिखरी हुई ताक़त को राष्ट्रव्यापी स्तर पर एकजुट करने की प्रक्रिया शुरू करनी चाहिए तथा देश में मौजूद जनवादी अधिकार संगठनों का न्यूनतम साझा कार्यक्रम के आधार पर एक संयुक्त मोर्चा बनाया जाना चाहिए।

प्रो. दीपांकर चक्रवर्ती ने अपना आलेख ‘भारत में मानवाधिकार आन्दोलन के प्रति यथार्थवादी रुख़ की तलाश में’ प्रस्तुत करते हुए कहा कि कात्यायनी के आलेख में कही गयी अधिकांश बातों से उनकी सहमति है और उनका आलेख तथा कात्यायनी का आलेख एक–दूसरे के सम्पूरक हैं। उन्होंने कहा कि मानवाधिकारों की अवधारणा वर्ग–विभाजनों से परे कोई अमूर्त विचार नहीं बल्कि किसी भी देश के सामाजिक विकास की विशिष्ट मंज़िल पर निर्भर करती है। आमतौर पर, मानवाधिकारों को सिर्फ़ नागरिक और राजनीतिक अधिकारों से जोड़कर देखा जाता है और इस तरह लोगों के आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक अधिकारों को एक तरह से नकार दिया जाता है। भोजन, वस्त्र, आवास, शिक्षा, स्वास्थ्य और रोज़गार आदि मूलभूत

(पेज 10 पर जारी)

व्यापक आधार वाला एकजुट जनवादी अधिकार आन्दोलन खड़ा करना होगा!

(पेज 9 से आगे)

अधिकारों को सुनिश्चित किये बिना सबसे बुनियादी मानवाधिकार, जीने के अधिकार को भी सुरक्षित नहीं किया जा सकता।

इसलिए मानवाधिकार आन्दोलन को मेहनतकश जनता के आन्दोलनों के साथ सीधा रिश्ता बनाना होगा। इसी सन्दर्भ में, हमारे देश में राजनीतिक आन्दोलनों और मानवाधिकार आन्दोलनों के बीच रिश्ते के प्रश्न पर चर्चा करना ज़रूरी है। उन्होंने कहा कि भारत की वर्तमान परिस्थिति में, कोई मानवाधिकार संगठन केवल "रिट याचिकाएँ दाख़िल करने, हस्ताक्षर अभियान चलाने, तथ्य–संग्रह टीमें भेजकर रिपोर्टें प्रकाशित करने और प्रतीकात्मक विरोध प्रदर्शन करने" तक सीमित नहीं रह सकता और न ही उसे सीमित रहना चाहिए, जैसा कि इस महत्त्वपूर्ण संगोष्ठी के आमन्त्रण पत्र में भी ज़िक्र किया गया है। लेकिन अगर इसमें किसी एक राजनीतिक संगठन का नेतृत्व स्वीकार लिया गया, तो हमेशा इस बात का ख़तरा बना रहेगा कि उस राजनीतिक शक्ति के हितों को पूरा करने के लिए मानवाधिकारों के आदर्शों को तिलांजलि दे दी जाये।

आधार आलेख पर चर्चा में भाग लेते हुए दिल्ली उच्च न्यायालय के पूर्व मुख्य न्यायाधीश एवं पीयूसीएल के राष्ट्रीय सलाहकार राजिन्दर सच्चर ने कहा कि कात्यायनी के आलेख में बहुत महत्त्वपूर्ण मुद्दे उठाये गये हैं जिन पर गम्भीरता से विचार किया जाना चाहिए। उन्होंने कहा कि सरकार एक के बाद एक देश के बेशक़ीमती प्राकृतिक संसाधन देशी–विदेशी कम्पनियों के हवाले कर रही है और इसके लिए भारी संख्या में आदिवासियों और किसानों को उजाड़ा जा रहा है। इनका प्रतिरोध कर रही जनता को कुचलने के लिए सरकार उन इलाक़ों में सशस्त्र बलों को भेज रही है। माओवादी हिंसा को सरकार जनता के दमन के बहाने के तौर पर इस्तेमाल कर रही है।

न्यायमूर्ति सच्चर ने कहा कि सरकार एक ओर जनता के विरुद्ध सेना का इस्तेमाल नहीं करने की बात करती है, तो दूसरी ओर छत्तीसगढ़ में 750 वर्ग किलोमीटर जंगल का इलाक़ा सेना के ट्रेनिंग कैम्प के लिए सौंप दिया गया है। सरकार अपनी कार्रवाइयों से गृहयुद्ध की स्थिति पैदा कर रही है। आज देश में दमन है तो उसका प्रतिरोध भी है। गोलीकाण्डों और गिरफ़्तारियों से लोग डरे नहीं हैं। आधार आलेख की चर्चा करते हुए उन्होंने कहा कि राजद्रोह के क़ानून और सशस्त्र बल विशेष अधिकार क़ानून को ख़त्म करने के सवाल पर देशव्यापी साझा आन्दोलन खड़ा किया जा सकता है। पीयूसीएल ने इस मुद्दे पर 10 लाख हस्ताक्षरों के साथ संसद के अगले सत्र के दौरान दिल्ली में विशाल प्रदर्शन करने की पहल की है। यहाँ से शुरुआत करके सभी काले क़ानूनों को ख़त्म करने के सवाल पर साझा मोर्चा बनाया जा सकता है।

श्री सच्चर ने आलेख में नयी संविधान सभा बुलाने की माँग का विरोध किया और कहा कि इस माँग के दक्षिणपन्थी शक्तियों के हाथ में चले जाने का ख़तरा हो सकता है। आज आन्दोलनों के बिखर जाने के कारण संविधान के प्रगतिशील तत्वों पर अमल नहीं हो रहा है। उन्होंने छत्तीसगढ़ में सरकार से संघर्ष कर रहे माओवादी विद्रोहियों को "युद्धबन्दी" का दर्जा देने की बात का भी विरोध करते हुए कहा कि हिंसा को ख़ारिज किये बिना मानवाधिकार संगठन नहीं चल सकते।

'मुक्तिकामी छात्रों–युवाओं का आह्वान' पत्रिका के सम्पादक अभिनव ने हिंसा–अहिंसा, भारतीय संविधान और कश्मीर के सवाल पर श्री सच्चर की आलोचनाओं से मतभेद जताते हुए कहा कि संविधान सभा में मान्य जननेता शामिल थे, इससे कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता। असल प्रश्न प्रक्रिया का है। जब तक सामूहिक इच्छा को प्रकट करने वाली सही प्रणाली को लागू नहीं किया जायेगा, तब तक कुछ मान्य नेताओं का आ जाना महज़ एक संयोग बना रहेगा। उन्होंने इतिहास में हिंसा व बलप्रयोग के प्रश्न पर विस्तृत चर्चा करते हुए इस बात का भी खण्डन किया कि जिन देशों में सशस्त्र क्रान्तियों के ज़रिये परिवर्तन हुए वहाँ जनवाद नहीं क़ायम हुआ। जनवाद के मूल्यों को जन्म देने वाली फ़्रांसीसी क्रान्ति इतिहास की सबसे रक्तरंजित क्रान्तियों में से थी।

नेपाल के प्रमुख मानवाधिकारकर्मी और नेपाल पब्लिक हेल्थ फ़ाउण्डेशन के अध्यक्ष डॉ. महेश मास्के ने कहा कि सत्ता की हिंसा ही जनता के संघर्षों को हिंसा का रास्ता अपनाने पर मजबूर करती है। उन्होंने नेपाल और भारत दोनों ही देशों में अधिक जनवादी संविधान की ज़रूरत की चर्चा करते हुए नेपाल में जनपक्षधर और प्रगतिशील संविधान बनाने के लिए चल रहे संघर्ष की चर्चा की।

आन्ध्र प्रदेश पीयूसीएल की अध्यक्ष जया विन्ध्यला ने व्यापक आधार वाले जनवादी अधिकार आन्दोलन की ज़रूरत का समर्थन करते हुए कहा कि इसके लिए सभी संगठनों के बीच विचार–विमर्श होना चाहिए।

लॉयर्स फ़ॉर जस्टिस एण्ड डेमोक्रेटिक राइट्स, पंजाब के एन. के. जीत ने कहा कि जनवादी अधिकार आन्दोलन की हालत उतनी कमज़ोर नहीं है जितनी आधार आलेख में दर्शायी गयी है। उन्होंने कहा कि जनवादी अधिकारों पर हर हमले का जनवादी अधिकार संगठनों और जनसंगठनों की ओर से पुरज़ोर विरोध किया जा रहा है। उन्होंने कहा कि पंजाब में जनान्दोलनों के दमन के लिए दो ख़तरनाक काले क़ानून लाये गये हैं। पंजाब सार्वजनिक सम्पत्ति क्षति निरोधक क़ानून के तहत प्रशासन की अनुमति के बिना धरना–प्रदर्शन करने पर 2 से 7 वर्ष तक की सज़ा हो सकती है। स्पेशल प्रोटेक्शन ग्रुप क़ानून के तहत पुलिस बलों को असीमित अधिकार दे दिये गये हैं। इनका कड़ा विरोध हो रहा है।

पीयूडीआर, दिल्ली के परमजीत ने विस्तृत उदाहरणों के साथ बताया कि देश के अलग–अलग हिस्सों में राजद्रोह तथा अन्य काले क़ानूनों का जनान्दोलनों के खिलाफ़ किस प्रकार दुरुपयोग किया जा रहा है। उन्होंने कहा कि जब तक जनान्दोलनों, मज़दूर संगठनों, ट्रेडयूनियनों आदि के लोग जनवादी अधिकार संगठनों के कामों से नहीं जुड़ेंगे तब तक जनवादी अधिकार संगठनों के कामों का दायरा सीमित ही रहेगा।

गुड़गाँव से आये राजकुमार व मुनीश ने अपने आलेख 'सरकार का युद्ध आतंकवाद के विरुद्ध या जनता के विरुद्ध' में ऑपरेशन ग्रीन हण्ट के नाम पर चलाये जा रहे दमनचक्र और कारपोरेट घरानों के लिए ज़मीन हड़पने और आदिवासियों के विस्थापन के बर्बर सरकारी अभियान की ब्योरेवार चर्चा करते हुए कहा कि भारतीय राज्य 1947 के बाद से ही लगातार जनता का निरंकुश दमन करता रहा है। राज्य मशीनरी की निरंकुशशाही का मुक़ाबला केवल व्यापक जनसमुदाय को जागृत और गोलबन्द करके ही किया जा सकता है। जनवादी–अधिकारकर्मियों पर बहुत बड़ी ज़िम्मेदारी यह सोचने की है कि जनता को अपने जनवादी अधिकारों के प्रति कैसे सचेत बनायें और उसे उनके लिए लड़ना और संघर्ष करना सिखायें। उन्हें जनता को बताना होगा कि प्रश्न केवल अबूझमाड़ का या दण्डकारण्य का नहीं है बल्कि असल सवाल उदारीकरण–भूमण्डलीकरण–निजीकरण की उन नीतियों का है जिनके फलस्वरूप मेहनतकश जनता का भारी हिस्सा तबाह और बर्बाद होकर नारकीय जीवन जी रहा है। इस सत्र में हुई चर्चा में मुम्बई से आये हर्ष ठाकोर, गोरखपुर में चले मज़दूर आन्दोलन से जुड़े प्रशान्त और किसान संघर्ष समिति, बलिया के अवधेश सिंह सहित विभिन्न वक्ताओं ने भाग लिया।

दूसरे दिन के पहले सत्र की अध्यक्षता डॉ. महेश मास्के, जया विन्ध्यला तथा अरविन्द स्मृति न्यास की मीनाक्षी ने की। दूसरे सत्र की अध्यक्षता वरिष्ठ कवि कपिलेश भोज, हरियाणा से आये बुद्धिजीवी कश्मीर सिंह और पंजाबी पत्रिका 'प्रतिबद्ध' के सम्पादक सुखविन्दर ने की।

श्रीलंका, नेपाल एवं दक्षिण एशिया में जनवादी अधिकार आन्दोलन पर केन्द्रित विशेष सत्र

संगोष्ठी के अन्तिम दिन का पहला सत्र श्रीलंका, नेपाल, तथा दक्षिण एशिया पर केन्द्रित था। श्रीलंका के पेरीदेनिया विश्वविद्यालय और इण्टरनेशनल सेण्टर फ़ॉर एथनिक स्टडीज़ के प्रो. कलिंग ट्यूडर सिल्वा ने 'श्रीलंका में जातीय अल्पसंख्यकों के जनवादी अधिकारों का उतार–चढ़ाव – दक्षिण एशिया के लिए सबक़' शीर्षक अपने आलेख में कहा कि उनके देश का अनुभव बताता है कि अल्पसंख्यकों के अधिकार के लिए संघर्ष पूरे समाज के व्यापक मुद्दों से जोड़कर ही सफल हो सकता है। राजपक्षे सरकार द्वारा लिट्टे को कुचलने के बाद वहाँ तमिलों के बर्बर दमन की चर्चा करते हुए उन्होंने कहा कि आज श्रीलंका में तमिलों के जनवादी अधिकारों का सवाल एकदम पीछे धकेल दिया गया है। प्रो. सिल्वा ने कहा कि श्रीलंका का अनुभव भी यही सिद्ध करता है कि सिविल सोसायटी के संगठन जब तक व्यापक जनता से अपने को नहीं जोड़ेंगे, तब तक उनकी आवाज़ भी निष्प्रभावी रहेगी। उन्होंने कहा कि लिबरेशन टाइगर्स ऑफ़ तमिल ईलम की मुख्य ग़लतियों में से एक यह थी कि उसने जातीय पहचान पर बहुत अधिक बल दिया और वर्गीय तथा अन्य भेदभाव और उत्पीड़न की उपेक्षा की तथा श्रीलंका में अन्य वंचित वर्गों के साथ अपने आन्दोलन को जोड़ने की कोशिश नहीं की।

डॉ. महेश मास्के ने अपने आलेख में नेपाल के जनवादी आन्दोलन की ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में चर्चा करते हुए कहा कि नेपाल आज संक्रमण के दौर से गुज़र रहा है। भविष्य का नेपाल कैसा हो इसके लिए पूँजीवादी शक्तियों, राजतन्त्र समर्थकों और जनता के हितों की पक्षधर शक्तियों के बीच संघर्ष जारी है। संविधान निर्माण में हो रहे विलम्ब का भी यही कारण है।

श्री राजिन्दर सच्चर ने श्रीलंका सरकार द्वारा तमिलों के दमन की तीखी निन्दा की और कहा कि तमिल इलाक़ों में मानवाधिकारों के हनन की जाँच के लिए संयुक्त राष्ट्र के दल को वहाँ जाने की इजाज़त न देकर श्रीलंका सरकार अन्तरराष्ट्रीय क़ानूनों का उल्लंघन कर रही है। उन्होंने नेपाल में नये संविधान के निर्माण में हो रहे विलम्ब को दुर्भाग्यपूर्ण बताते हुए सभी पक्षों से इसके लिए मिलकर काम करने की अपील की।

पीयूडीआर के परमजीत ने कहा कि नेपाल में हो रही घटनाओं पर पूरी दुनिया की निगाहें टिकी हैं। उन्होंने भारत के राजदूत द्वारा नेपाल के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप की भी निन्दा की।

सशक्त जनवादी अधिकार आन्दोलन खड़ा करने के साझा प्रयासों को आगे बढ़ाने पर आम सहमति

संगोष्ठी के अन्तिम सत्र में दो आलेख प्रस्तुत किये गये तथा उन पर चर्चा हुई। जया विन्ध्यला ने अपने आलेख में भारत में जनवादी अधिकार आन्दोलन के इतिहास, इसकी उपलब्धियों और समस्याओं की चर्चा की और एक मज़बूत जनवादी अधिकार आन्दोलन खड़ा करने के लिए सभी संगठनों के साथ मिलकर काम करने पर बल दिया।

पंजाब के डॉ. अमृतपाल ने अपने आलेख में स्वास्थ्य को एक बुनियादी जनवादी अधिकार का दर्जा देने की बात की। उन्होंने विस्तृत ब्योरों और आँकड़ों के ज़रिये बताया कि आज़ादी के 63 साल बाद भी भारत की आम आबादी को स्वास्थ्य जैसा मूलभूत अधिकार तक हासिल नहीं हो सका है। आज स्वास्थ्य को बाज़ार की शक्तियों के हवाले कर रहा–सहा अधिकार भी छीना जा रहा है। उन्होंने कहा कि जनवादी अधिकार आन्दोलन को स्वास्थ्य के सवाल पर जनता को जागरूक और संगठित कर सरकार पर दबाव बनाना होगा। स्वास्थ्य के प्रश्न पर जनता के बीच काम करते हुए उसे अन्य जनवादी अधिकारों के बारे में शिक्षित तथा संगठित करने का एक आधार भी बनेगा।

इस सत्र में हुई चर्चा में इस बात पर आम सहमति उभरकर आयी कि देश के विभिन्न हिस्सों में काम कर रहे जनवादी व नागरिक अधिकार संगठनों, न्यायविदों, जनवादी अधिकारों के समर्थक बुद्धिजीवियों, लेखकों व सामाजिक कार्यकर्ताओं को जनवादी अधिकारों पर एक सशक्त साझा आन्दोलन खड़ा करने के प्रयासों को आगे बढ़ाना होगा। विभिन्न वक्ताओं ने इस बात पर बल दिया कि जनवादी अधिकार आन्दोलन को व्यापक सामाजिक आधार वाले जनान्दोलन के रूप में संगठित करना होगा और व्यापक जनता के बुनियादी जनवादी अधिकारों को इसके संघर्ष के एजेण्डा पर लाना होगा। राज्यसत्ता के अतिरिक्त जनता के जनवादी अधिकारों का अपहरण करने वाली सामाजिक संस्थाओं–मूल्यों–मान्यताओं के विरुद्ध व्यापक जन जागरूकता मुहिम चलाना भी जनवादी अधिकार आन्दोलन का कार्यभार होना चाहिए। राज्यसत्ता के बढ़ते दमनकारी रुख़ के प्रभावी प्रतिकार के लिए जनवादी अधिकार आन्दोलन की बिखरी हुई ताक़त को राष्ट्रव्यापी स्तर पर एकजुट करना होगा। इसके लिए ज़रूरी है कि आज देश में जो जनवादी अधिकार संगठन मौजूद हैं, उनके न्यूनतम साझा कार्यक्रम के आधार पर एक संयुक्त मोर्चा बनाने की पहल की जाये।

संगोष्ठी में यह माँग भी रखी गयी कि राजद्रोह के औपनिवेशिक क़ानून (आई.पी.सी. की धारा 124ए) को रद्द किया जाना चाहिए तथा ए.एफ़.एस.पी.ए. जैसे बर्बर निरंकुश क़ानून को न केवल उत्तर पूर्व एवं जम्मू–कश्मीर से तत्काल हटाया जाना चाहिए, बल्कि हर ऐसे काले क़ानून को रद्द किया जाना चाहिए जो सेना या अर्द्धसैनिक बलों को आम नागरिकों की आज़ादी एवं जनवादी अधिकारों को कुचलने की छूट देता हो।

तीसरे दिन की संगोष्ठी के पहले सत्र की अध्यक्षता न्यायमूर्ति राजिन्दर सच्चर, श्री निनु चपागाईं तथा श्री परमजीत ने और अन्तिम सत्र की अध्यक्षता श्री शिरीष मेढ़ी, प्रो. दीपांकर चक्रवर्ती व आन्ध्र प्रदेश पीयूसीएल के उपाध्यक्ष इक़बाल ख़ान ने की। संगोष्ठी के तीनों दिन संचालन की ज़िम्मेदारी सत्यम ने सँभाली।

संगोष्ठी के समापन के बाद 'विहान' की ओर से दमन के विरुद्ध दुनियाभर में गाये जाने वाले अनेक प्रसिद्ध गीतों की प्रस्तुति की गयी।

• बिगुल संवाददाता

कैसा है यह लोकतन्त्र और यह संविधान किनकी सेवा करता है? (बारहवीं किस्त)

आलोक रंजन

प्रस्तावना में जोड़े गये “समाजवादी” शब्द की बेशर्म धोखाधड़ी

भारतीय संविधान की प्रस्तावना में समाजवाद शब्द 3 जनवरी 1977 को लागू हुए कुख्यात 42वें संशोधन द्वारा जोड़ा गया। इससे बड़ी विडम्बना क्या हो सकती कि समाजवाद शब्द आपातकाल के काले दिनों में और उस 42वें संशोधन विधेयक द्वारा जोड़ा गया जो राज्य के तथाकथित व्यापक हित में नागरिकों के जीवन के मूलभूत अधिकार का भी अपहरण कर लेने की इजाज़त देता था। समाजवाद शब्द उन दिनों जोड़ा गया जब देश में बुर्जुआ जनवाद के तहत मिले अधिकारों को भी छीन लिया गया था। दरअसल बढ़ते पूँजीवादी संकट के कारण राज्य की बढ़ती निरंकुशता और जनता के दमन-उत्पीड़न पर पर्दा डालने के लिए ही समाजवाद का साइनबोर्ड लटकाया गया था।

संविधान में भले ही यह शब्द बहुत बाद में जोड़ा गया मगर स्वतन्त्रता आन्दोलन आज़ादी के समय से ही समाजवाद और “समाजवादी क़िस्म” की अर्थव्यवस्था की बातें कांग्रेस के नेता ख़ासकर जवाहरलाल नेहरू करते रहे थे। 1947 के बाद पंचवर्षीय योजनाएँ शुरू करते और सार्वजनिक क्षेत्र के विशाल उद्योगों में भारी निवेश करते हुए नेहरू ने “समाजवादी ढर्रे” पर भारत का निर्माण करने की वचनबद्धता दोहरायी। कई कल्याणकारी योजनाएँ भी शुरू की गयीं। मगर क्या यही समाजवाद है? पिछले 40-50 वर्षों की यात्रा बताती है कि देश लगातार लुटेरे पूँजीपतियों की गिरफ़्त में और गहरे धँसता गया है और इसकी शुरुआत 1947 में ही हो गयी थी। आज़ादी के ठीक बाद ही तेलंगाना में किसान आन्दोलन को कुचलने के लिए सेना उतारकर नेहरू ने भारतीय राज्य का असली चरित्र स्पष्ट कर दिया था। आगे हम जब केन्द्र-राज्य सम्बन्धों और भारतीय राज्य के संघात्मक ढाँचे पर चर्चा करेंगे तब और स्पष्ट हो जायेगा कि किस तरीक़े का दमनात्मक, अति केन्द्रीकृत राज्यतन्त्र यहाँ विकसित हुआ। लेकिन समाजवाद और समाजवादी क़िस्म के नारों की जुगाली नेहरू और दूसरे नेता लगातार करते रहे।

नेहरू के समाजवाद का अपना अलग ब्राण्ड था, लेकिन मूल रूप में यह उसी तरह का “समाजवाद” था जिस तरह के समाजवाद की बातें घाना में क्वामे एन्क्रूमा, मिस्र में जमाल अब्दुल नासिर, इण्डोनेशिया में सुकर्ण और सीरिया तथा इराक़ में बाथ पार्टी के नेता करते थे। इन सबका मूल लक्ष्य एक ही था। जनता को समाजवाद की चाशनी में पगी कड़वी दवा पिलाकर जनता से निचोड़े गये संसाधनों के बूते पर पूँजीवादी विकास के लिए ज़रूरी आधारभूत ढाँचे और भारी उद्योगों का निर्माण करना। इसकी असलियत की पड़ताल करनी ज़रूरी है।

नेहरू का समाजवाद कुछ मायने में तीसरी दुनिया के इन नवस्वाधीन देशों के बुर्जुआ नेताओं के मुक़ाबले कहीं अधिक कपटपूर्ण और जनविरोधी था। 1936 से ही कांग्रेस नियोजित अर्थव्यवस्था की बातें करने लगी थी। 1944 में कांग्रेस ने टाटा-बिड़ला योजना को स्वीकार किया और दरअसल वही ’47 के बाद आर्थिक विकास की नीतियों का आधार बनी। इसमें भी नियोजित अर्थव्यवस्था और सार्वजनिक क्षेत्र की बात की गयी थी। घनश्यामदास बिड़ला आज़ादी के पहले से ही दूसरे पूँजीपतियों को समझाते रहते थे कि नेहरू समाजवाद की जो लम्बी-चौड़ी बातें करते हैं उनसे घबराने की ज़रूरत नहीं है, इनमें हमारा ही भला है।

उपनिवेशवाद से आज़ादी पाने वाले सभी देशों के सामने विकास के लिए पूँजी की समस्या थी। भारतीय पूँजीपतियों के सामने भी सबसे बड़ी समस्या प्रारम्भिक पूँजी-संचय की ही थी। पूँजीवादी विकास के लिए इस्पात, बिजली भारी मशीनरी जैसे बुनियादी उद्योगों और यातायात-परिवहन, सड़कों, रेलमार्गों, संचार-व्यवस्था आदि का ताना-बाना खड़ा करना था। कृषि में पूँजीवादी विकास और कृषि क्षेत्र से अधिशेष के दोहन के लिए नहरों, बाँधों आदि का निर्माण और बड़े उर्वरक कारख़ाने लगाना था। इन सबके लिए बहुत बड़े पैमाने पर पूँजी की ज़रूरत थी। इस पूँजी के लिए विदेशों पर निर्भरता से बचने के लिए भारतीय पूँजीपति वर्ग ने जनता से पूँजी उगाहने का रास्ता चुना। पूँजीपतियों के औद्योगिक-व्यापारिक हितों की प्रतिनिधि संस्था ‘फ़ेडरेशन ऑफ़ इण्डियन चैम्बर्स ऑफ़ कॉमर्स एण्ड इण्डस्ट्री’ (फ़िक्की) और कांग्रेस दोनों ने ही पहले से तय कर लिया था कि राजाओं-महाराजाओं, नवाबों, जागीरदारों, ज़मींदारों, मठों-मन्दिरों-मस्जिदों-गुरुद्वारों-गिरजाघरों के पास जनता की मेहनत की कमाई की सैकड़ों साल की लूट से बटोरी गयी जो अकूत सम्पत्ति पड़ी है, उसे नहीं छूना है। यही नहीं ज़मींदारी उन्मूलन के दौरान उन्हें 600 करोड़ रुपये का हर्ज़ाना देने का भी निर्णय किया गया जो आज की क़ीमत पर लगभग 2 लाख करोड़ रुपये बैठेगा। अगर भारत में जन क्रान्ति हुई होती तो इस विराट सम्पदा को निश्चय ही विकास के लिए शुरुआती पूँजी संचय के रूप में इस्तेमाल किया जाता। उस समय तक भारत में उद्योग-धन्धे अत्यन्त सीमित होने के कारण उनसे निचोड़े गये अतिरिक्त मूल्य से निर्मित पूँजी इतनी कम थी कि उसके सहारे तो आधारभूत संरचना का विकास होने में सैकड़ों साल लग जाते।

ऐसे में प्रारम्भिक पूँजी जुटाने के लिए भारतीय पूँजीपति वर्ग के पास दो ही रास्ते थे। पहला यह कि मज़दूरों-किसानों की नस-नस से ख़ून निचोड़कर सिक्कों में ढाला जाये, आम जनता की गाढ़ी कमाई से भी पाई-पाई छीन ली जाये और उन्हें बदहाली और कंगाली में धकेल दिया जाये। इसके लिए उन्होंने तरह-तरह के छल-प्रपंच और तरक़ीबें ईजाद कीं। दूसरा रास्ता विदेशों से पूँजी आयात करने का था। इसमें भी भारतीय पूँजीपति वर्ग ने दुनिया के तत्कालीन वर्ग-सन्तुलन का लाभ उठाकर अपनी राजनीतिक आज़ादी को क़ायम रखते हुए अपने आर्थिक आधारों को बढ़ाने और विकसित करने में विदेशी पूँजी का कुशलता से इस्तेमाल किया।

देश की जनता से पूँजी उगाहने में एक समस्या थी। मज़दूरों-किसानों और आम मेहनतकश लोगों को लूटकर सीधे पूँजीपतियों को पैसा नहीं दिया जा सकता था। इसलिए मिश्रित अर्थव्यवस्था के नाम पर सार्वजनिक क्षेत्र, संयुक्त क्षेत्र और निजी क्षेत्र की नीतियाँ बनायी गयीं। सार्वजनिक क्षेत्र में आधारभूत उद्योगों और बुनियादी ढाँचे से सम्बन्धित उद्योगों को लगाने का निर्णय किया गया जिनमें मुनाफ़ा बहुत ही कम या नाममात्र का था, लेकिन जिनके दम पर निजी क्षेत्र भारी मुनाफ़ा कमाकर अपनी पूँजी का विस्तार कर सकता था। यह बहुत चालाकी भरी नीति थी। यहाँ का पूँजीपति वर्ग अपने दम पर आधारभूत उद्योगों और इन्फ्रास्ट्रक्चर का निर्माण करने में अक्षम था। यह काम जनता की गाढ़ी कमाई से राज्य ही कर सकता था। इसी को बड़ी कुशलता से “समाजवादी ढर्रे के समाज के विकास” का नाम दिया गया।

राजकीय पूँजीवाद का यह रास्ता कोई नयी बात नहीं थी। जर्मनी में 19वीं सदी में बिस्मार्क के समय से जनता से पैसे लेकर पूँजीपतियों के हित साधने के लिए इस रास्ते का इस्तेमाल किया जा रहा है। 1930 के दशक में महामन्दी के बाद पूँजीवाद को संकट से उबारने के लिए कल्याणकारी राज्य के कीन्सियाई नुस्ख़े के तहत राज्य ने जनता से पैसे उगाहकर बड़े पैमाने पर सार्वजनिक निर्माण और अवरचनागत ढाँचे में पूँजी निवेश किया। भारत में यह काम समाजवाद के नारे के तहत नये तरीक़े से किया गया। जनता पूँजीपतियों को सीधे तो पैसे देती नहीं मगर समाजवाद के नाम पर राज्य ने उसके पैसे से दैत्याकार सार्वजनिक उपक्रम खड़े करके पूँजीपतियों का काम आसान कर दिया। परोक्ष करों के द्वारा आम जनता से उगाही गयी विशाल धनराशियों और पेंशन, बीमा, छोटी-छोटी बचतों आदि में जमा जनता की अरबों की धनराशि को “उधार लेकर” सार्वजनिक क्षेत्र में निवेश किया गया। सार्वजनिक क्षेत्र के इन उद्योगों, बाँधों आदि को नेहरू ने “देश के नये मन्दिरों” का नाम दिया मगर इनका असली मक़सद पूँजीपतियों के उद्योगों की मदद करना था। 50-60 साल के क़रार करके नाममात्र की क़ीमतों पर पूँजीपतियों को स्टील, बिजली, पानी, कोयला और औद्योगिक उत्पादन के लिए ज़रूरी अनेक सुविधाएँ प्रदान की गयीं। रेलों से माल ढुलाई आदि में उन्हें भारी छूटें दी गयीं। देहात में क्रमिक पूँजीवादी विकास के लिए राज्य ने विभिन्न तरीक़ों से पूँजी निवेश किया। नहरों का जाल बिछाया गया, खाद के बड़े-बड़े कारख़ाने लगाये गये। तथाकथित हरित क्रान्ति के दौरान यह प्रक्रिया और तेज़ी से बढ़ी।

1970 का दशक आते-आते आधारभूत ढाँचे और राष्ट्रीय बाज़ार के विकास का काम काफ़ी हद तक पूरा हो चुका था। अब पूँजीपतियों को और अधिक विस्तार के लिए फिर से पूँजी की ज़रूरत पड़ने लगी थी। इसी समय एक बार फिर ‘ग़रीबी हटाओ’ और समाजवाद के नारे देते हुए इन्दिरा गाँधी ने बैंकों का राष्ट्रीयकरण कर दिया। इससे घरेलू बचत बहुत अधिक बढ़ गयी। बैंकों की शाखाएँ और विस्तारित पटल दूर-दराज़ के इलाक़ों तक पहुँच गये। समाजवाद की इस अगली किश्त से एक बार फिर पूँजीपतियों के लिए बड़े पैमाने पर पूँजी जुटायी गयी। जनता की बचत से पूँजीपतियों को अपने उद्योगों में निवेश के लिए भारी पैमाने पर उधार दिया गया। बैंकों में जमा रक़म पर जनता को 4-6 प्रतिशत ब्याज मिलता था मगर उसी रक़म को निवेश करके पूँजीपति 10-20 या 50 गुना मुनाफ़ा बटोरते थे। 1980 के दशक की शुरुआत में जब स्वराज पॉल ने कई भारतीय कम्पनियों के शेयर ख़रीदकर उन पर क़ब्ज़ा करने की कोशिश की तब आम लोगों के सामने यह उजागर हुआ कि टाटा-बिड़ला जैसे बड़े घराने भी महज़ 6-7 प्रतिशत शेयरों के दम पर हज़ारों करोड़ के सम्पत्ति साम्राज्य को नियन्त्रित करते हैं। सबसे अधिक पूँजी बैंकों और बीमा कम्पनियों ने लगायी हुई थी।

भारतीय पूँजीपति वर्ग के राजनीतिक प्रतिनिधियों ने बड़ी कुशलता के साथ पूँजीवादी विकास के अपने रास्ते को समाजवाद के आवरण में पेश किया। भाकपा, माकपा और कुछ अन्य कम्युनिस्ट नामधारी पार्टियाँ भी इसी को समाजवाद की दिशा में क़दम का दाम देती थीं और राष्ट्रीयकरण की रट लगाती रहती थीं। आज भी ये पार्टियाँ सार्वजनिक क्षेत्र के निजीकरण पर इस क़दर मातम करती हैं मानो वास्तव में जनता से समाजवाद छीन लिया गया हो। क्या बड़े उद्योगों पर सरकार का स्वामित्व ही समाजवाद है? पूँजीवाद के तहत होने वाला राष्ट्रीकरण विशुद्ध पूँजीवाद ही होता है। भारत में सार्वजनिक क्षेत्र के नौकरशाहों और टेक्नोक्रेट के रूप में एक विशाल नौकरशाह पूँजीपति वर्ग अस्तित्व में आया। इन उद्योगों में काम करने वाले मज़दूरों से उगाहे गये अतिरिक्त मूल्य का हस्तगतकर्ता जनता नहीं थी। इसकी भारी मात्रा पूँजीपतियों को अपने उद्योगों के विकास में मदद के लिए थमा दी जाती थी और बाक़ी नौकरशाह पूँजीपतियों के नये वर्ग के ऐशोआराम और विलासिता पर ख़र्च होती थी। सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमों के शीर्षस्थ अफ़सर अपने ऊपर करोड़ों रुपये ख़र्च करते थे।

अब भारतीय पूँजीपति वर्ग के पास इतनी पूँजी आ चुकी है कि वह प्रतिस्पर्द्धा करके सार्वजनिक क्षेत्र के उद्योगों को ख़रीद सकता है और ख़ुद भी बड़े आधारभूत उद्योग लगा सकता है। अब उसका अपना आधार इतना विस्तारित हो चुका है कि पूँजी और तकनोलॉजी के लिए विदेशी कम्पनियों के लिए दरवाज़े खोलकर भी उसके सामने राजनीतिक आज़ादी खोने का ख़तरा नहीं है। साम्राज्यवादी बड़ी पूँजी का कनिष्ठ साझीदार बनकर वह देश की जनता की लूट में भागीदारी करता रह सकता है।

इसी वजह से पिछले कुछ वर्षों के भीतर सार्वजनिक क्षेत्र तेज़ी से सिकुड़ा है। और एक के बाद एक कारख़ाने निजी क्षेत्र में दे दिये गये हैं। सार्वजनिक क्षेत्र के जो उद्योग बचे भी हुए हैं, उनकी भी अन्दर से प्रकृति बदल गयी है। दिल्ली मेट्रो रेल कारपोरेशन में तो अधिकांश काम प्राइवेट ठेका कम्पनियों के मज़दूरों से कराया जाता है, रेलवे में भी किश्तों में निजीकरण लगातार जारी है। कल्याणकारी राज्य की एक-एक योजनाओं को लगातार बन्द किया जा रहा है, शिक्षा, स्वास्थ्य आदि को पूरी तरह बाज़ार की शक्तियों के हवाले कर दिया गया है। मनमोहन सिंह-चिदम्बरम-अहलूवालिया आदि जिस भाषा में बाज़ार की शक्तियों का गुणगान करते हैं और “समाजवाद” की खिल्ली उड़ाते हैं, और तमाम सरकारी भोंपू और मीडिया लगातार पूँजीपतियों के सुर में सुर मिलाकर देश की तमाम समस्याओं के लिए 1947 के बाद की “समाजवादी” नीतियों को दोषी ठहराते हैं, उसे देखते हुए तो इन्हें फिर से प्रस्ताव पास कर संविधान से समाजवाद शब्द को निकाल देना चाहिए।

हालाँकि, आपातकाल के दौरान जब यह शब्द जोड़ा गया था तब और आज में एक बात की समानता है। तब भी राज्य का दमनकारी स्वरूप एकदम नग्न-निरंकुश रूप में जनता के सामने आया था। आज भी अघोषित आपातकाल जैसी स्थिति बनी हुई है। मेहनतकश जनता के श्रम और देश के प्राकृतिक संसाधनों की वहशी लूट के लिए देशी-विदेशी पूँजीपतियों को खुली छूट दे दी गयी है और जहाँ भी लोग इसका प्रतिरोध कर रहे हैं, उनका बर्बर दमन किया जा रहा है। ऐसे में संविधान की प्रस्तावना में मौजूद समाजवाद शब्द बार-बार आपातकाल के काले दिनों की और जनता के साथ की गयी धोखाधड़ी की याद दिलाता रहता है।

(अगले अंक में जारी)

ब्रिटेन में ग़रीबों का विद्रोह

संकटग्रस्त दैत्य के दुर्गों में ऐसे तूफ़ान उठते ही रहेंगे

पिछली 6 अगस्त को ब्रिटेन में भड़के उग्र दंगों ने ब्रिटिश हुकूमत को हिलाकर रख दिया। चार दिनों और चार रातों तक यूरोप के सबसे बड़े शहर लन्दन सहित ब्रिटेन के कई शहरों में ग़रीबों के इस विद्रोह की लपटें भड़कती रहीं। इस वर्ष की शुरुआत से ही पूरी दुनिया में जनउभार और सामाजिक उथल-पुथल जारी है – मिस्र में, पूरे मध्य पूर्व और उत्तरी अफ़्रीका में, स्पेन, ग्रीस, चीले और कई अन्य देशों में। फिर ब्रिटेन में लाखों लोगों के ग़ुस्से का लावा सड़कों पर फूट पड़ा। यह एक ऐसे समाज के ख़िलाफ़ बरसों से जमा ग़ुस्से का विस्फोट था जो उन्हें अभाव, बर्बरता और गहरी हताशा के सिवा कुछ नहीं देता।

लन्दन के टॉटेनहम इलाक़े में कुछ पुलिसवालों द्वारा एक अश्वेत नौजवान मार्क डुगन की झूठी मुठभेड़ में हत्या के बाद जो दंगे भड़के वह लम्बे समय से सुलग रहा असन्तोष था जो बग़ावत के रूप में फूट पड़ा था। 4 अगस्त को पुलिस ने एक मिनी कैब में जा रहे मार्क डुगन को रोककर उतारा और बिल्कुल नज़दीक से उसे गोली मार दी। पुलिस ने झूठी कहानी बनायी कि मार्क ने पुलिस पर गोली चलायी थी जो एक पुलिसवाले के वायरलेस सेट में धँस गयी थी। बाद में यह साफ़ हो गया कि मार्क के पास बन्दूक़ ही नहीं थी और वायरलेस सेट में धँसी गोली पुलिस के ही हथियार से चलायी गयी थी। इस हत्या के विरोध में जब इलाक़े के लोग पुलिस स्टेशन पर प्रदर्शन कर रहे थे तो कई पुलिसवालों ने एक 16 वर्षीय लड़की की बुरी तरह पिटाई कर दी।

उस रात, टॉटेनहम में लोगों का ग़ुस्सा भड़क उठा। नाराज़ भीड़ ने कई इमारतों को आग लगा दी और पुलिस स्टेशन पर हमले किये। जगह-जगह बैरिकेड खड़े कर दिये गये और सड़कों पर मोर्चाबन्दी करके पुलिस से लड़ाई शुरू हो गयी। अगले दिन रविवार को, राजधानी लन्दन के भीतर और आसपास के कई इलाक़ों – उत्तर में हैकनी, एनफ़ील्ड और दूसरे क्षेत्र; दक्षिण में ब्रिक्सटन आदि क्षेत्र; मध्य लन्दन के मुख्य व्यापारिक इलाक़े ऑक्सफ़ोर्ड स्ट्रीट और कई उपनगरों में लपटें भड़क उठीं। सोमवार और मंगलवार तक ब्रिटेन के अन्य बड़े शहरों, बर्मिंघम, लीड्स, ग्लूस्टर, मानचेस्टर, साल्फ़ोर्ड, लिवरपूल, नॉटिंघम और ब्रिस्टल आदि में भी अशान्ति फैल चुकी थी। ग़रीबों की आबादी वाले लन्दन के 20 इलाक़ों में चार दिनों तक सड़कों पर लोगों का ही क़ब्ज़ा रहा।

ब्रिटिश सत्ताधारियों ने इसके जवाब में लन्दन की सड़कों पर 16,000 पुलिसवाले उतार दिये, जोकि इस शहर के इतिहास में सबसे अधिक हैं। दंगे शान्त हो जाने के बाद कई दिनों तक पुलिस फ़ोटोग्राफ़ और टीवी चैनलों की वीडियो रिकॉर्डिंग से पहचान कर-करके लोगों की धर-पकड़ करती रही। 2,000 से ज़्यादा लोगों को गिरफ़्तार किया गया। ब्रिटिश प्रधानमन्त्री डेविड कैमरॉन से लेकर गृहमन्त्री टेरेसा मे और विपक्षी लेबर पार्टी के नेता एड मिलिबैण्ड तक सबने इसे असामाजिक तत्वों की आपराधिक कार्रवाई क़रार दिया और कहा कि इसका इलाज कठोर पुलिस कार्रवाई है। रूपर्ट मर्डोक के मालिकाने वाले प्रतिक्रियावादी सनसनीखेज़ अख़बारों से लेकर ब्रिटिश बुर्जुआ वर्ग के उदार धड़े का प्रतिनिधित्व करने वाले बीबीसी तक इस बात से इंकार करते रहे कि इस उथल-पुथल का ग़रीबी, बेरोज़गारी, नस्लवाद और पुलिस की क्रूरता से कोई सम्बन्ध है।

बेशक, यह एक अराजक विस्फोट था और इस दौरान बड़ी कम्पनियों के शोरूमों के अलावा बहुत-सी छोटी दुकानों को भी लूटने और जलाने की घटनाएँ हुईं। लूटपाट और आगजनी में भाग लेने वाले युवाओं का एक बड़ा हिस्सा ब्रिटिश समाज के रसातल में रहने वाले लम्पट सर्वहाराओं का भी था। लेकिन सड़कों पर उतरे नौजवानों और उनके समुदायों के लोगों में आमतौर पर यह भावना थी कि यह राज्य के उन सशस्त्र बलों से लड़ने का एक मौक़ा है जो उन्हें लगातार अपमान और क्रूरता का शिकार बनाते रहते हैं। एक टीवी रिपोर्टर ने एक नौजवान से पूछा कि क्या दंगा करना असन्तोष व्यक्त करने का सही तरीक़ा है? उसने जवाब दिया – "हाँ, अगर हम ये सब नहीं करते तो आप मुझसे बात नहीं कर रहे होते। दो महीने पहले हम मार्च निकालकर स्कॉटलैण्ड यार्ड (लन्दन पुलिस का मुख्यालय) तक गये थे – हम 2,000 काले लोग थे, पूरी तरह शान्तिपूर्ण, और क्या हुआ? प्रेस में एक शब्द भी नहीं आया। कल रात थोड़ा-सा दंगा हुआ और देखिये – सारे चैनल यहाँ मौजूद हैं।" 'गार्डियन' अख़बार की एक रिपोर्ट के अनुसार नौजवानों का मक़सद साफ़ था : वे पुलिस से लड़ना चाहते थे। नौजवान लड़के-लड़कियों ने जगह-जगह मलबा, ड्रम, जलती लकड़ियों और मोटरसाइकिलों से अपने रिहायशी इलाक़ों को घेरकर उनके पीछे से पुलिस से घण्टों तक मोर्चा लिया।

इन दंगों में सबसे बड़ी संख्या में काले लोगों ने हिस्सा लिया, क्योंकि उनकी आबादी सबसे अधिक अभावग्रस्त और वंचित है और वे ही सबसे अधिक पुलिस उत्पीड़न का शिकार होते हैं। एशियाई – प्रवासी आबादी इसमें भागीदारी से दूर रही लेकिन ग़रीब गोरी आबादी का भी एक हिस्सा पुलिस से लड़ने और लूटपाट में शामिल था। मेहनतकश गोरी आबादी में सड़क पर उतरे नौजवानों के प्रति समर्थन भी था। एक बस ड्राइवर ने एक अख़बार के रिपोर्टर से कहा, "उन्हें सिर्फ़ पुलिस से नहीं लड़ना चाहिए, उन्हें कैमरॉन की सरकार से लड़ना चाहिए।"

इन दंगों का विश्लेषण ब्रिटिश समाज में व्याप्त रंगभेद और प्रवासी आबादी की बदहाली एवं उत्पीड़न के ही सन्दर्भ में करना नाकाफ़ी होगा। इससे भी अधिक यह बढ़ते पूँजीवादी आर्थिक संकट, ब्रिटिश समाज के गहराते आन्तरिक संकट, उसके टूटते सामाजिक ताने-बाने और उग्र होते वर्गीय तथा सामाजिक अन्तरविरोधों का सूचक है।

मार्क डुगन की हत्या ने बारूद के ढेर में चिंगारी का काम किया लेकिन लावा तो लम्बे समय से सुलग रहा था। 2008 से शुरू हुई भीषण मन्दी के बाद से तमाम कल्याणकारी योजनाओं में सरकारी कटौती और बढ़ती बेरोज़गारी ने ग़ुस्से की आग में ईंधन का काम किया। दुनियाभर की पूँजीवादी सरकारों की तरह ब्रिटिश शासकों ने भी आर्थिक संकट के जवाब में एक ओर तो पूँजीपतियों को अरबों पौण्ड की वित्तीय सहायता दी है, और दूसरी ओर स्वास्थ्य, शिक्षा, ग़रीबों के लिए आवास, पेंशन जैसे कार्यक्रमों में भारी कटौतियाँ लागू की हैं। निजीकरण-उदारीकरण की नीतियों के दौर में इन सभी कार्यक्रमों में क्रमश: कटौतियों का सिलसिला वैसे तो पिछले डेढ़-दो दशक से जारी है। इन कटौतियों की मार सबसे अधिक उन तबक़ों पर पड़ी है जो पहले ही भयंकर ग़रीबी की चपेट में हैं। पिछले तीन वर्षों में देशभर में बेरोज़गारी दोगुनी हो गयी है और टॉटेनहम जैसी जगहों पर हालात और भी ख़राब हैं। हर उपलब्ध नौकरी के लिए काम की तलाश करते 54 नौजवान मौजूद हैं। काले नौजवानों के बीच बेरोज़गारी की दर 50 प्रतिशत है। 'टाइम्स ऑफ़ इण्डिया' में 11 अगस्त को प्रकाशित एक रिपोर्ट के अनुसार जिन इलाक़ों में दंगे हुए उन सभी में बेरोज़गारी की दर शेष ब्रिटेन से काफ़ी अधिक है।

ब्रिटेन पूरे पश्चिमी जगत में सबसे अधिक असमान समाजों में से एक रहा है। वहाँ 21.8 प्रतिशत आबादी ग़रीबी रेखा के नीचे रहती है। आवास के ख़र्चों को जोड़ने के बाद तो यह आँकड़ा 28 प्रतिशत तक पहुँच जाता है। इस वर्ष यूरोपीय समुदाय के एक अध्ययन से पता चला कि ब्रिटिश नौजवानों में 17 प्रतिशत ऐसे हैं जिनके पास न रोज़गार है, न शिक्षा और न कोई तकनीकी प्रशिक्षण। यानी वे हाईस्कूल से पहले ही पढ़ाई छोड़ चुके हैं और उन्हें रोज़गार मिलने की कोई सम्भावना भी नहीं है। इसी अध्ययन से पता चला कि 25 वर्ष से कम उम्र के 6 लाख से अधिक लोगों को कभी एक दिन का भी काम नहीं मिला है। वहाँ एक बहुत बड़ी आबादी समाज के रसातल में धकेल दी गयी है जो व्यवहारत: बाज़ार व्यवस्था से बहिष्कृत, समाज के हाशियों पर उपेक्षित, लांछित और अनुत्पादक ढंग से जी रही है। इसी आबादी के बीच अमानवीकरण और अपराधी प्रवृत्तियाँ भी पैदा होती हैं।

एक ब्रिटिश वेबसाइट ने दंगों पर टिप्पणी करते हुए लिखा कि जिस समाज में सिर्फ़ एक घण्टे के बस के सफ़र से आप दो ऐसी अलग-अलग दुनियाओं में पहुँच जाते हैं जिनमें नागरिकों की औसत उम्र में 6 वर्ष का अन्तर है, वह एक बुरी तरह बीमार समाज है। कहने को लन्दन दुनिया का सबसे महँगा शहर है, लेकिन इसके भीतर एक ग़रीब देश भी बसता है। उदारीकरण की नीतियों के समर्थक अख़बार 'फ़ाइनेंशियल टाइम्स' ने भी पिछले साल चेतावनी दी थी कि "ब्रिटेन को बढ़ते अन्तर का ध्यान रखना होगा।" पिछले वर्ष आयी एक चर्चित किताब के लेखकों ने बताया था कि बढ़ती असमानता सामाजिक हिंसा और अपराधों को बढ़ावा दे रही है जिसके चलते 1990 से 2007 के बीच ब्रिटेन की जेलों में क़ैद लोगों की संख्या बढ़कर दोगुनी हो गयी। कहने की ज़रूरत नहीं कि इन क़ैदियों में सबसे बड़ी संख्या ग़रीबों और काले लोगों की है।

बढ़ते पुलिस उत्पीड़न और नस्लवादी घृणा ने आग में घी का काम किया है। पिछले दिनों लागू ज्वाइण्ट एण्टरप्राइज़ क़ानूनों के तहत किसी अपराध के लिए लोगों के पूरे समूह को दोषी ठहराया जा सकता है। यहाँ तक कि किसी अपराधी को जानने वाले निर्दोष लोग भी इसकी चपेट में आ सकते हैं। जैसा कि एक काले छात्र ने बीबीसी को बताया, "अगर आप किसी ग़रीब इलाक़े में रहते हैं तो यह नामुमकिन है कि आप किसी अपराधी को न जानते हों। और ऐसे में अगर आप ज्वाइण्ट एण्टरप्राइज़ क़ानून के तहत कम उम्र में ही जेल भेज दिये गये, तो बाहर आने के बाद आपको काम मिलना और भी मुश्किल हो जायेगा।"

पुलिस आये दिन ग़रीब इलाक़ों में छापे मारती रहती है। पिछले एक दशक में ब्रिटिश पुलिस की हिरासत में क़रीब 1,000 लोगों की मौत हो चुकी है और आज तक किसी भी पुलिसकर्मी को इसमें सज़ा नहीं हुई है। ब्रिटेन में काले लोगों की आबादी महज़ 2.5 प्रतिशत है, लेकिन पुलिस द्वारा किसी काले आदमी को रोककर तलाशी लेने की सम्भावना गोरों के मुक़ाबले सात गुना अधिक होती है। लोगों ने यह भी देखा है कि पुलिस अपने अपराधों के बारे में किस तरह झूठ बोलती है, जैसाकि उन्होंने मार्क डुगन के मामले में किया। 2005 में जब पुलिस ने लन्दन मेट्रो में बम विस्फोटों के बाद एक बेकसूर ब्राज़ीली नौजवान ज्याँ चार्ल्स मेनेज़ेस के सिर में छह गोलियाँ मारी थीं तब उन्होंने कहा था कि उसकी हरकतें "आतंकवादी" जैसी थीं, जबकि प्रत्यक्षदर्शियों और जाँच रिपोर्टों के मुताबिक़ उसने कुछ भी असामान्य नहीं किया था। 2008 में जी-8 देशों के सम्मेलन के ख़िलाफ़ प्रदर्शनों के दौरान इयान टॉमलिन्सन नामक एक अख़बार विक्रेता को डण्डों से पीटकर मार डाला गया था। तब भी पुलिस ने कहा था कि उसे प्रदर्शनकारियों ने मारा है जबकि उसकी हत्या एक पुलिस सारजेण्ट ने की थी। इसी वर्ष अप्रैल में एक काले प्रतिरोधी संगीतकार स्माइली कल्चर के घर पर पुलिस के छापे के दौरान पुलिस ने दावा किया कि उसने सीने में चाकू घोंपकर आत्महत्या कर ली। इस घटना के विरोध में भी उग्र प्रदर्शन हुए थे। मार्क डुगन जिस इलाक़े में रहता था, उसी इलाक़े में दो दशक पहले पुलिस ने एक सामुदायिक कार्यकर्ता की माँ सिन्थिया जैरेट की हत्या कर दी थी।

इस सबके कारण सिर्फ़ "स्थायी रूप से बेरोज़गार" युवाओं और रसातल की अन्य आबादी में ही नहीं बल्कि ग़रीब मेहनतकशों, विद्यार्थियों और अन्य निचले तबक़े में भी हताशा और ग़ुस्सा बढ़ता गया है। पिछले साल विश्वविद्यालयों की फ़ीस में तीन गुना बढ़ोत्तरी का विरोध कर रहे छात्रों और पुलिस के बीच हिंसक झड़पें हुई थीं। हाल की घटनाओं के बाद अदालत में पेश किये गये लोगों में से एक ग्राफ़िक डिज़ाइनर, डाकघर के कर्मचारी, डेण्टिस्ट के असिस्टेण्ट, शिक्षक, फ़ोर्कलिफ़्ट ड्राइवर जैसे लोग भी थे (न्यूयार्क टाइम्स)। ब्रिटिश समाचार एजेंसी रायटर की एक रिपोर्ट में हैकनी के एक नौजवान ने कहा, "(दंगे करने वाले) ये लोग कोई गुण्डे-मवाली नहीं थे। वे मेहनतकश लोग थे, जो ग़ुस्से से भरे हुए हैं। उन्होंने हर चीज़ महँगी कर दी है, बच्चों को मिलने वाली सुविधाओं तक में कटौती कर दी है। हर किसी को बस अपना ग़ुस्सा निकालने का एक मौक़ा मिल गया।"

लम्पट तत्वों द्वारा छोटी दुकानों में लूटपाट की घटनाओं को छोड़ दिया जाये तो ज़्यादातर जगहों पर लूटपाट का निशाना विशाल महँगे स्टोर और बड़ी कम्पनियों के शोरूम ही थे। यह नहीं भूलना चाहिए कि ख़ुद पूँजीवादी समाज ग़रीबों के सामने विलासिता के अपने सामानों का अश्लील प्रदर्शन करता रहता है और उन्हें बार-बार यह एहसास कराता रहता है कि अगर तुम्हारे पास फ़्लैटस्क्रीन टीवी, स्टीरियो, माइक्रोवेव या फ़ैशनेबल कपड़े नहीं हैं तो तुम इन्सान होने के क़ाबिल ही नहीं हो, जबकि दूसरी ओर वही समाज आम आबादी को लगातार ऐसी ग़रीबी में धकेलता जाता है जहाँ उनके लिए अपनी रोज़मर्रा की ज़रूरतें पूरी करना ही मुश्किल हो जाता है। बड़े पैमाने पर हुई लूटपाट के पीछे एक प्रतिशोधी भावना भी थी। जैसा कि एक टीवी चैनल पर दो लड़कियों ने कहा, "हम अमीरों को दिखा देना चाहते हैं कि हम जो चाहे वो कर सकते हैं!"

कुल मिलाकर, ब्रिटेन में ग़रीबों के असन्तोष का यह विस्फोट पूँजीवाद के अपरिहार्य अन्तरविरोधों और उसके बढ़ते

(पेज 6 पर जारी)

अमेरिकी साम्राज्यवाद का क़र्ज़ संकट

विश्व पूँजीवाद के गहराते संकट की अभिव्यक्ति

सुखविन्दर

विश्व पूँजीवादी व्यवस्था के सिर पर एक नये आर्थिक संकट के बादल मँडरा रहे हैं। 1930 की महामन्दी के बाद के सबसे बड़े 2008 के संकट से अभी विश्व पूँजीवाद उबर भी नहीं पाया था कि एक और नया आर्थिक संकट इसके दरवाज़े पर दस्तक देने लगा है जिसकी अभिव्यक्ति ग्रीस, इटली, पुर्तगाल, स्पेन और अब अमेरिका के क़र्ज़ संकट के रूप में सामने आ रही है।

बीते दो और तीन अगस्त को अमेरिका में दो ऐसी महत्त्वपूर्ण घटनाएँ हुईं जिन्होंने फ़ौरी तौर पर तो कमोबेश पूरी दुनिया की पूँजीवादी अर्थव्यवस्था को प्रभावित किया ही, आने वाले दिनों में विश्व पूँजीवादी अर्थव्यवस्था और भी बुरी तरह से प्रभावित होगी। दो अगस्त को अमेरिका की सत्तारूढ़ डेमोक्रेटिक पार्टी तथा विपक्षी रिपब्लिकन पार्टी कई महीने लम्बी कशमकश के बाद अमेरिकी सरकार की क़र्ज़ लेने की सीमा बढ़ाने पर सहमत हो गयीं। दोनों पार्टियों की सहमति से अमेरिकी सरकार द्वारा क़र्ज़ ले सकने की वर्तमान सीमा 14.29 खरब डॉलर में 2.4 खरब डॉलर की बढ़ोत्तरी कर दी गयी। सरकारी क़र्ज़ की सीमा 1917 में तय की गयी थी, जब कांग्रेस (अमेरिकी संसद) ने सरकार को प्रथम विश्वयुद्ध में भागीदारी के बदले 11.315 अरब डॉलर क़र्ज़ लेने की अनुमति दी थी। 1962 के बाद से कांग्रेस अमेरिकी सरकार द्वारा क़र्ज़ लेने की सीमा को 74 बार बढ़ा चुकी है।

ओबामा प्रशासन तथा विपक्षी रिपब्लिकन पार्टी के बीच अमेरिका की क़र्ज़ सीमा बढ़ाने के बारे में इस बार जो समझौता हुआ अगर उस पर अमल होता है तो उसका ख़ामियाज़ा भी अमेरिका के आम ग़रीब मेहनतकश नागरिक ही भुगतेंगे। समझौते के मुताबिक़ अमेरिकी सरकार को आने वाले दस वर्षों में अपने ख़र्चों में 2.5 खरब डॉलर की कटौती करनी होगी। इस कटौती का बड़ा हिस्सा (लगभग 65 प्रतिशत) वह ख़र्च है जो अमेरिकी सरकार आम लोगों पर करती है जैसे कि बुनियादी ढाँचा, स्वच्छ ऊर्जा, शिक्षा, बाल सुरक्षा, घर, सामुदायिक सेवाएँ आदि।

3 अगस्त को क़र्ज़ चुकाने की साख तय करने वाली अमेरिका की ही कम्पनी स्टैण्डर्ड एण्ड पुअर (एस एण्ड पी) ने अमेरिका की क़र्ज़ साख घटा दी। पिछले 95 साल में यह पहली बार हुआ है कि अमेरिका की क़र्ज़ चुकाने की साख (क्रेडिट रेटिंग) एएए (AAA) से घटाकर एएप्लस (AA+) कर दी गयी है। क़र्ज़ चुकाने की साख में कमी का मतलब हुआ कि अमेरिका को क़र्ज़ देना जोखिम भरा है और अमेरिका के क़र्ज़दाता तथा निवेशक वहाँ पूँजी लगाने से बचेंगे। स्टैण्डर्ड एण्ड पुअर ने अमेरिका के बारे में यह आकलन अचानक नहीं घोषित किया है। अमेरिका के सिक्योरिटीज़ एण्ड एक्सचेंज कमीशन के साथ मिलकर काम करने वाली यह कम्पनी पिछले लम्बे समय से अमेरिकी सरकार को यह चेतावनी दे रही थी। क़र्ज़ चुकाने की साख निर्धारित करने वाली दुनिया की दूसरी बड़ी कम्पनियों मूडीज़ इंवेस्टमेण्ट सर्विसेज़ और फ़िच ने भले ही अमेरिका की साख तो नहीं घटायी लेकिन अमेरिका को ख़तरे का संकेत वे भी दे चुकी हैं। उधर चीन की वैश्विक क़र्ज़ रेटिंग एजेंसी डागोंग पहले ही अमेरिका की क़र्ज़ साख घटा चुकी है। 2008 की मन्दी में धराशायी हुई लेहमन ब्रदर्स तथा मेरिल लिंच जैसी कम्पनियों की क़र्ज़ साख इन क्रेडिट रेटिंग कम्पनियों की नज़र में अच्छी (एएए) थी, पर इसके बावजूद उक्त कम्पनियों का दिवाला पिट गया था और इन क्रेडिट रेटिंग कम्पनियों की काफ़ी मिट्टी पलीद हुई थी। ऐसा दुबारा न हो इसलिए इस बार क्रेडिट रेटिंग कम्पनियाँ कोई जोखिम मोल नहीं लेना चाहतीं। स्टैण्डर्ड एण्ड पुअर द्वारा अमेरिका की क़र्ज़ साख कम करने पर अमेरिकी सरकार ने इस एजेंसी पर काफ़ी ग़ुस्सा निकाला, मगर यह एजेंसी अपने फ़ैसले पर अड़ी रही।

अमेरिका आज भी दुनिया की सबसे बड़ी अर्थव्यवस्था है। वैश्विक सकल घरेलू उत्पाद में अकेले अमेरिका का हिस्सा ही 23 प्रतिशत के क़रीब है। अमेरिका को विश्व पूँजीवादी अर्थव्यवस्था का इंजन कहा जाता है। भारत, चीन तथा यूरोप आज दुनिया में अपने निर्यातों के लिए बड़े पैमाने पर अमेरिका पर निर्भर हैं। अमेरिकी अर्थव्यवस्था में होने वाली हर हलचल कमोबेश पूरी विश्व पूँजीवादी अर्थव्यवस्था को ही अपनी चपेट में ले लेती है।

एस एण्ड पी द्वारा अमेरिका की क़र्ज़ साख कम किये जाने के बाद अमेरिका समेत कई देशों के शेयर बाज़ार लुढ़क गये। अमेरिका में मन्दी के डर से 5 अगस्त को भारत के शेयर बाज़ार (बीएसई सेंसेक्स) में भी 387 अंक की गिरावट दर्ज़ की गयी। यह गिरावट बाद में भी जारी रही। 10 अगस्त को यहाँ 132.27 अंक की गिरावट दर्ज़ की गयी। 15 अगस्त तक ही रुपये की क़ीमत में 20 पैसे की गिरावट दर्ज़ की जा चुकी थी।

शेयर बाज़ारों में आयी इस गिरावट के चलते 5 अगस्त तक ही, अमेरिका की क़र्ज़ साख कम करने के बाद सिर्फ़ दो दिन के भीतर ही विश्वभर में 2.5 खरब डॉलर की पूँजी स्वाहा हो गयी। यह स्वाहा पूँजी लगभग फ़्रांस की अर्थव्यवस्था के बराबर है।

निवेशकों ने अब शेयर बाज़ार की बजाय सोने की तरफ़ रुख़ किया है। वे शेयर बाज़ार से पूँजी निकालकर सोना ख़रीद रहे हैं। इसलिए दुनियाभर में सोने की क़ीमत लगातार बढ़ती जा रही है।

अमेरिका के क़र्ज़ संकट के कारण क्या हैं?

इस समय अमेरिकी सरकार का क़र्ज़ 12 खरब डॉलर से भी अधिक है। 2001 में यह 5.8 खरब डॉलर और 2005 में 8.36 खरब डॉलर था। 2012 तक इसके बढ़कर 16.7 खरब डॉलर हो जाने की सम्भावना है। इस समय अमेरिका का क़र्ज़ इसके राष्ट्रीय उत्पाद का 75 फ़ीसदी है जो कि 2013 में बढ़कर 84 प्रतिशत हो जायेगा। आख़िर अमेरिका का क़र्ज़ इस तेज़ रफ़्तार से क्यों बढ़ता गया है? आइये, अब एक निगाह अमेरिकी क़र्ज़ संकट के फ़ौरी तथा बुनियादी कारणों पर डालें।

पहला कारण तो यह है कि पिछले लगभग एक दशक से अमेरिकी सरकार द्वारा, चाहे सरकार रिपब्लिकन पार्टी की हो या डेमोक्रेटिक पार्टी की, अमेरिका के पूँजीपतियों को टैक्सों में बड़ी राहत दी जाती रही है। बुश प्रशासन द्वारा 2001, 2003 तथा फिर 2005 में अमेरिकी पूँजीपतियों पर लगने वाले टैक्सों में भारी कटौती की गयी। दिसम्बर 2010 में ओबामा प्रशासन ने भी पूँजीपतियों पर इन टैक्स कटौतियों को जारी रखने का फ़ैसला लिया। पूँजीपतियों के लिए यह टैक्स कटौती लगभग 1 खरब डॉलर तक है। ओबामा के ही शब्दों में पूँजीपतियों पर टैक्स का "यह पिछली आधी सदी में सर्वाधिक निम्न स्तर पर है।" पूँजीपतियों को टैक्सों में दी जाने वाली इस बड़ी छूट के चलते सरकार की आमदनी कम हुई है। नतीजतन इससे अमेरिकी सरकार का क़र्ज़ संकट बढ़ा है।

अमेरिकी सरकार के क़र्ज़ संकट का दूसरा बड़ा कारण है अफ़गानिस्तान तथा इराक़ के युद्ध। 'आतंकवाद' से लड़ने के बहाने अमेरिका ने पहले 2001 में अफ़गानिस्तान और फिर इराक़ पर हमला किया। अमेरिकी हमलों ने इन दोनों देशों को तबाह–बर्बाद कर दिया है। लाखों बेगुनाहों का क़त्ल किया गया। लेकिन तमाम अत्याचारों के बावजूद अमेरिका इराक़ तथा अफ़गानिस्तान की जनता को न तो हरा सका है, न ही झुका सका है। अफ़गानिस्तान की जंग अमेरिकी इतिहास की सबसे लम्बी जंग होने जा रही है। इस जंग से बाहर निकलने का अमेरिकी साम्राज्यवाद को कोई रास्ता नज़र नहीं आता। उधर इन युद्धों के ख़र्च के बोझ ने अमेरिकी अर्थव्यस्था की कमर तोड़ दी है। अब न तो अमेरिका इराक़, अफ़गानिस्तान युद्ध को बीच में ही छोड़ सकता है और न ही आगे बढ़ा सकता है। अभी इराक़ और अफ़गानिस्तान में अमेरिकी साम्राज्यवाद बुरी तरह से उलझा ही हुआ था कि लीबिया में उसने नया पंगा ले लिया।

अमेरिकी कांग्रेस ने सिर्फ़ अमेरिका के रक्षा विभाग को 2011 के वित्तीय वर्ष के लिए युद्ध के ख़र्च के वास्ते 1.3 खरब डॉलर जारी किये हैं। इसके अलावा पेण्टागन ने अपने 5.2 खरब डॉलर के आधार बजट में से जो ख़र्च किया है, उसका ब्योरा अभी उपलब्ध नहीं है।

अमेरिका के ब्राउन विश्वविद्यालय के मुताबिक़ इन जंगों की अमेरिका को सालाना 3.7 खरब डॉलर की क़ीमत चुकानी पड़ रही है यानी कि 12,000 डॉलर प्रति अमेरिकी नागरिक। अफ़गान तथा इराक़ युद्ध का मासिक ख़र्च ही 9.7 अरब डॉलर है।

यह है अमेरिकी साम्राज्यवाद द्वारा विश्व के अलग–अलग कोनों में बेगुनाहों की हत्या पर किया जाने वाला ख़र्च जिसने अमेरिकी साम्राज्यवाद के क़र्ज़ संकट में काफ़ी इज़ाफ़ा किया है।

अमेरिकी क़र्ज़ संकट का तीसरा बड़ा कारण है 2008 के वित्तीय संकट के बाद अनेक पूँजीवादी देशों की तरह ही अमेरिकी सरकार द्वारा पूँजीपतियों को दिये गये बेलआउट पैकेज।

अमेरिकी क़र्ज़ का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कारण है अमेरिकी अर्थव्यवस्था पर छायी दीर्घकालीन मन्दी। वैसे तो पिछले लगभग चार दशकों से ही विश्व पूँजीवादी अर्थव्यवस्था ने तेज़ी का दौर नहीं देखा है। बस इसके कुछ एक खित्तों जैसे चीन, भारत, रूस तथा ब्राज़ील (ये दो देश थोड़ा बाद में इसमें शामिल हुए) में ही आर्थिक विकास दर तेज़ रही है। अमेरिका पिछले एक दशक से मन्दी से जूझ रहा है। इसी बीच इसको 2001 के डॉट कॉम संकट, 2007 के सबप्राइम संकट, 2008 के वित्तीय संकट तथा अब 2011 के क़र्ज़ संकट का सामना करना पड़ा है। अमेरिका में इस समय बेरोज़गारी की दर 9.2 प्रतिशत है। हर महीने यहाँ लगभग 30 हज़ार नौकरियाँ ख़त्म हो रही हैं। अमेरिकी अर्थव्यवस्था की वृद्धि दर बेहद कम है। 2008 के वित्तीय संकट के बाद से ही अमेरिका में ब्याज दरें बेहद कम (0 से 2.5 प्रतिशत) हैं। और अमेरिका के केन्द्रीय बैंक फ़ेडरल रिज़र्व ने इन्हें 2013 के मध्य तक जारी रखने का फ़ैसला किया है। पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में ब्याज़ दरें इसलिए कम रखी जाती हैं ताकि बचतों को हतोत्साहित किया जा सके, यानी लोग बचत करने की बजाय अपने पैसे को ख़र्च करें। दूसरे उन्हें कुछ भी ख़रीदने के लिए सस्ता क़र्ज़ मिल सके। इसी तरह निवेशकों को भी सस्ती मुद्रा पूँजी मिल सके। लेकिन ब्याज दरों को बेहद कम रखने तथा बेलआउट पैकेजों के ज़रिये अर्थव्यवस्था में अरबों डॉलर झोंकने के बावजूद अमेरिकी अर्थव्यवस्था की वृद्धि दर एक–डेढ़ प्रतिशत के आसपास डोल रही है। अर्थव्यवस्था की मज़बूती से पैदा होते रोज़गार, वस्तुओं तथा सेवाओं की खपत में बढ़ोत्तरी के चलते सरकारी ख़ज़ाने को भी सहारा मिलता है। मगर अमेरिकी ख़ज़ाने को सहारा दे सकने वाला यह पहलू भी वहाँ ग़ायब है।

ऊपर बताये गये सभी कारण पूँजीवाद के बुनियादी अन्तरविरोध से उपजे प्रभाव मात्र ही हैं। पूँजीवाद में दिन–प्रतिदिन श्रम का समाजीकरण बढ़ता जाता है, लेकिन करोड़ों मज़दूरों के श्रम के फल मुट्ठीभर हाथों में सिमटकर रह जाते हैं। दूसरे शब्दों में, श्रम का समाजीकरण तथा उत्पादन का निजी विनियोजन पूँजीवाद का बुनियादी अन्तरविरोध है। पूँजीवाद के इस बुनियादी अन्तरविरोध के चलते मुट्ठीभर पूँजीपतियों के हाथों में तो बेपनाह धन–दौलत इकट्ठा हो जाती है और दूसरी ओर विशाल मेहनतकश आबादी की क्रय–शक्ति बेहद सीमित हो जाती है। दूसरी तरफ़ उत्पादन के साधनों पर पूँजीपतियों के क़ब्ज़े के चलते उनके बीच बाज़ार का बड़ा हिस्सा हथियाने के लिए भीषण प्रतिस्पर्धा जन्म लेती है। पूँजीपतियों के पास यह जानने का कोई ज़रिया नहीं होता कि वह जिस चीज़ का उत्पादन करवा रहे हैं, वह मण्डी में बिकेगी या नहीं। सिर्फ़ मण्डी में माल ले जाने पर ही इसका पता चलता है। इस सबका नतीजा अति उत्पादन के संकट के रूप में सामने आता है। पूँजीवाद में अति उत्पादन का संकट इसलिए नहीं पैदा होता कि जनता की ज़रूरतें पूरी हो गयी हैं, बल्कि इसलिए होता है कि बहुसंख्यक जनता के पास अपनी ज़रूरत की चीज़ें ख़रीदने के लिए पैसा नहीं होता।

आज अमेरिका सहित विश्व पूँजीवादी अर्थव्यवस्था इसी अति उत्पादन के संकट से जूझ रही है। पूँजीवादी सरकारें क़र्ज़ ले–लेकर बड़ी मात्रा में मुद्रा अर्थव्यवस्था में झोंक रही हैं, ताकि अर्थव्यवस्था में माँग को बनाये रखा जा सके। 2010 में विश्वभर की पूँजीवादी सरकारों पर 41.1 खरब डॉलर क़र्ज़ था जो कि विश्व के सकल घरेलू उत्पाद (जीडीपी) के 69 प्रतिशत के बराबर था। पिछले 10 वर्ष में इसमें 25 खरब डॉलर की और सिर्फ़ पिछले दो वर्ष में 9.4 खरब डॉलर की बढ़ोत्तरी हुई है। इससे पता चलता है कि विश्व पूँजीवादी अर्थव्यवस्था का संकट किस क़दर गहरा है।

संकट से निदान का रास्ता क्या है?

आइये, अब अमेरिकी सरकार द्वारा इस क़र्ज़ संकट से निदान के रास्तों पर विचार किया जाये। पहला रास्ता है कि अमेरिकी सरकार पूँजीपतियों को टैक्सों में दी जाने वाली छूट बन्द कर दे और उन पर टैक्स बढ़ा दे। लेकिन ऐसा मुमकिन नहीं है। पहली बात तो, विपक्षी रिपब्लिकन पार्टी इसका ज़बरदस्त विरोध करेगी और ऐसी हर सम्भावना का वह अभी से विरोध कर भी रही है। दूसरे, ख़ुद ओबामा भी अपने आकाओं (अमेरिकी पूँजीपतियों), जिनके द्वारा दिये करोड़ों के चन्दों से तथा जिनके आशीर्वाद से वह अमेरिकी राष्ट्रपति बने हैं, के ख़िलाफ़ नहीं जाना चाहेंगे। यही वजह है कि पिछले साल दिसम्बर में उन्होंने बुश काल से चली आ रही पूँजीपतियों के लिए टैक्स–छूट को बरक़रार रखा है। तीसरे, इससे अमेरिकी पूँजीवाद के मुनाफ़े में कटौती होने के कारण विश्व पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में इसकी प्रतिस्पर्धी क्षमता कम होगी जो कि अमेरिकी पूँजीवाद को और भी गहरे संकट में धकेल देगी।

अमेरिकी सरकार के पास दूसरा रास्ता है युद्ध के ख़र्चे में कटौती, लेकिन आज के हालात में यह भी मुमकिन नहीं लग रहा है। अमेरिकी अर्थव्यवस्था का एक बड़ा हिस्सा है हथियार निर्माण उद्योग (मिलिट्री इण्डस्ट्रियल

(पेज 6 पर जारी)

पूँजीवादी व्यवस्था को ख़त्म किये बिना भ्रष्टाचार मिट नहीं सकता!

(पेज 1 से आगे)

अगर 'टीम अण्णा' के लोग सच्चे अर्थों में जनता की लड़ाई लड़ना चाहते हैं तो उन्हें ऐसे निकायों और संस्थाओं की बात उठानी, चाहिए जिन पर किसी भी प्रकार से नौकरशाहाना तन्त्र का अंकुश न हो।

पूँजीवादी व्यवस्था के भीतर भ्रष्टाचार ख़त्म हो ही नहीं सकता

हो सकता है कि अण्णा हज़ारे के आन्दोलन के कारण लोकपाल क़ानून बन जाये और कुछ हद तक जनता को रोज़मर्रा के जीवन में भ्रष्टाचार से थोड़ी राहत भी मिल लाये। लेकिन इसे "दूसरी आज़ादी की लड़ाई" या "एक नयी क्रान्ति की शुरुआत" आदि–आदि कहना एक छोटी–सी बात का अतिशय महिमामण्डन करना है। पूँजीवादी व्यवस्था के भीतर भ्रष्टाचार ख़त्म हो ही नहीं सकता। इसकी मात्रा कम या ज़्यादा हो सकती है। भ्रष्टाचार मुक्त पूँजीवाद एक आदर्शवादी कल्पना है जो मध्यवर्ग के लोगों को बहुत लुभाती है, मगर कभी भी अमल में नहीं आ सकती। यदि मान लिया जाये कि कोई सदाचारी क़िस्म का पूँजीवाद अस्तित्व में आ जायेगा, तो वह भी आम मेहनतकश जनता के लिए अत्याचारी, शोषक और भ्रष्टाचारी ही होगा। पूँजीवाद का अस्तित्व ही बहुसंख्यक मेहनतकश आबादी की श्रमशक्ति की लूट पर टिका होता है। अगर पूँजीपति एकदम ईमानदारी से ठेके आदि लें और सरकार द्वारा तय मज़दूरी का भुगतान करें तब भी मज़दूर की मेहनत जितना उत्पादन करती है उसका एक छोटा–सा ही हिस्सा मज़दूर को मिलता है। कच्चे माल, मशीनरी–मेण्टेनेंस आदि का ख़र्च निकालने के बाद भी भारी रक़म मुनाफ़े के तौर पर पूँजीपति की जेब में चली जाती है। मज़दूर जो पैदा करता है उस पर उसका कोई नियन्त्रण नहीं होता। उसे उतना ही मिलता है जिससे वह ज़िन्दा रह सके, अपनी न्यूनतम ज़रूरतें पूरी करके काम करता रह सके। पूँजीवादी समाज में लगातार होड़ चलती रहती है। होड़ पूँजीवादी समाज का मूलमन्त्र है। मुनाफ़ा बढ़ाने की इसी होड़ में पूँजीपति मज़दूरों से ज़्यादा से ज़्यादा काम कराने की तरकीबें निकाले हुए मज़दूरों द्वारा हासिल क़ानूनी हक़ों को भी हड़प जाते हैं। न्यूनतम मज़दूरी भी नहीं देते, जबरन ओवरटाइम कराते हैं, बच्चों से आधी मज़दूरी पर काम कराते हैं, सुरक्षा, स्वास्थ्य, ईएसआई आदि मदों के ख़र्चों को मार लेते हैं। बिजली, टैक्स आदि की चोरी करते हैं, इंस्पेक्टरों की जेब गरम करते हैं और नेताओं तथा अफ़सरों को घूस खिलाते हैं। यानी जब पूँजीवादी लूट–खसोट क़ानूनी दायरे में होती है तब भी वह आम मेहनतकशों के हक़ों को मारती है और फिर यह होड़ क़ानून की सीमा को भी लाँघ जाती है और रिश्वतख़ोरी–कमीशनख़ोरी–जमाख़ोरी के रूप में काले धन का अम्बार पैदा करने लगती है। ऐसे में भ्रष्ट नेताओं–अफ़सरों और दलालों का बहुत बड़ा बिचौलिया तबक़ा भी मलाई चाटने लगता है।

इसे और अच्छी तरह समझ लें। मुनाफ़े की रफ़्तार बढ़ाने के लिए पूँजीपति बेहतर मशीनें और नयी तकनीकें लाता है, कम मज़दूरों से ज़्यादा उत्पादन कराता है और बाक़ी मज़दूरों को निकाल देता है। बेरोज़गारी बढ़ने से मज़दूरों की मोलतोल की ताक़त घट जाती है और वे पहले से भी कम मज़दूरी पर काम करने के लिए तैयार हो जाते हैं। यह सरासर ब्लैकमेलिंग एकदम क़ानूनी तरीक़े से होती है। सारे पूँजीपति अपना कारोबार बढ़ाने के लिए बैंकों में जमा जनता की बचत का पैसा उधार लेते हैं, एक से दस बनाते हैं और उसका एक बहुत छोटा–सा हिस्सा ब्याज के रूप में वापस करते हैं। यह धोखाधड़ी भी एकदम क़ानूनी तरीक़े से होती है। फिर पूँजीपति शेयर बाज़ार से पूँजी बटोरने उतरते हैं। पहले शेयरों का खेल क़ानूनी तरीक़े से चलता है लेकिन होड़ का वही तर्क जल्दी ही इसे नियन्त्रण से बाहर कर देता है और बहुत बड़े पैमाने पर ग़ैरक़ानूनी सट्टेबाज़ी शुरू हो जाती है। पूँजी बढ़ाने की यही होड़ हवाला करोबार, अवैध कारख़ानों और तमाम तरह के ग़ैरक़ानूनी कारोबारों को जन्म देती है और फिर अपराध को भी एक संगठित कारोबार बना देती है।

संक्षेप में कहें, तो पूँजीवाद में अगर सबकुछ क़ानूनी तरीक़े से हो तब भी वह एक भ्रष्टाचार और अनाचार है। **जिस समाज व्यवस्था में अमीर–ग़रीब की खाई लगातार बढ़ती रहती है और समस्त सम्पदा पैदा करने वाली बहुसंख्यक आबादी की न्यूनतम ज़रूरतें भी पूरी नहीं हो पातीं, वह अपने आप में एक भ्रष्टाचार है।**

अगर मान लिया जाये कि विदेशों में जमा सारा काला धन देश में आ जाये, और देश के भीतर उससे कई गुना अधिक जो काला धन जमा है, वह भी अगर सफ़ेद हो जाये तो क्या आम मेहनतकश जनता की हालत बेहतर हो जायेगी? इस सारे धन का निवेश "विकास" के कामों में होगा जिनकी प्राथमिकताएँ समाज के ताक़तवर तबक़ों के हिसाब से तय की जायेंगी। देश में आज भी पूँजी की कोई कमी नहीं है। सवाल इस बात का है कि उसे कहाँ लगाया जाये और कहाँ नहीं। गाँव–गाँव में और शहरी ग़रीबों के इलाक़ों में स्कूल, डिस्पेंसरी, अस्पताल खोलना, लाखों टन अनाज को सड़ने से बचाने के लिए गोदाम बनवाना, ग़रीबों के इलाक़ों में कीचड़ से बजबजाती सड़कों की मरम्मत कराना ज़्यादा ज़रूरी है या पूँजीपतियों की सुविधा के लिए बड़े–बड़े बन्दरगाह, एक्सप्रेस हाइवे, अत्याधुनिक हवाईअड्डे, होटल और एस.ई.ज़ेड. बनवाना – यह इस बात से तय होता है कि सत्ता पर किन वर्गों का वर्चस्व है। अगर कुछ देर के लिए मान लिया जाये कि सारा काला धन जन–कल्याण और सार्वजनिक निर्माण के कामों में ही लगा दिया जायेगा, तो वह सारा काम भी अफ़सरशाहों और देशी–विदेशी कम्पनियों के मार्फ़त ही होगा। यह सारा काला धन फिर पूँजी बनकर मज़दूरों को और निचोड़ने के काम आयेगा, ठेकों में कमीशनख़ोरी होगी, कामों में घपला होगा। थोड़ा–बहुत पूँजीवादी विकास हो भी जायेगा पर शोषण और असमानता को बढ़ाने की प्रक्रिया पहले की तरह जारी रहेगी। कमीशनख़ोरी–रिश्वतख़ोरी की नीचे से लेकर ऊपर तक बनी शृंखला चलती रहेगी और कालेधन का अम्बार फिर इकट्ठा होने लगेगा।

भारत सिंगापुर या स्वीडन नहीं बन सकता!

भ्रष्टाचार–विरोध की बात करने वाले लोग अकसर दुनिया के कई देशों का उदाहरण देते हैं जहाँ भ्रष्टाचार बहुत कम है और ओम्बुड्समैन जैसी संस्थाएँ मौजूद हैं। "टीम अण्णा" के कई प्रवक्ता और उनके मंच से बोलने वाले अरिन्दम चौधरी जैसे वक्ता भी स्वीडन, हालैण्ड, सिंगापुर, हांगकांग आदि का नाम गिनाते रहते हैं जहाँ भ्रष्टाचार बहुत कम है और इसके ख़िलाफ़ बड़े सख़्त क़ानून लागू हैं। मगर इन देशों की असलियत क्या है? ये देश सारी दुनिया में लूटमार करने वाली कम्पनियों और परजीवी पूँजी का स्वर्ग हैं। स्वीडन और हालैण्ड जैसे देशों की हथियार कम्पनियाँ और दवा कम्पनियाँ पूरी दुनिया में लाखों लोगों को मौत और ग़रीबी में धकेलकर खरबों का मुनाफ़ा बटोरती हैं जिसका एक हिस्सा वहाँ के नागरिकों को बेहतर जीवनस्तर के रूप में मिल जाता है। सिंगापुर–हांगकांग जैसी जगहें ख़ुद ही तमाम क़िस्म के काले धन्धों और दुनियाभर से सूदख़ोरी के ज़रिये खरबों बटोरने वाली वित्तीय कम्पनियों का गढ़ हैं। इन छोटे–छोटे देशों में फ़ासिस्ट क़िस्म के सख़्त क़ानूनों के ज़रिये रोज़मर्रा के जीवन में भ्रष्टाचार कम किया जा सकता है मगर उन्हें "मॉडल" के रूप में पेश करना भी बताता है कि ऐसे लोग किस क़िस्म का समाज बनाना चाहते हैं। इन देशों को अगर पूरी दुनिया से काटकर देखें तो लगेगा कि वहाँ कितना सदाचारी पूँजीवाद है। लेकिन इनके सदाचार का लबादा पूरी दुनिया की जनता के ख़ून से लथपथ है। अमेरिका में तो ख़ैर भ्रष्टाचार बहुत खुले रूप में मौजूद है जिसे हॉलीवुड की फ़िल्मों तक में देखा जा सकता है, लेकिन यूरोप के कई मुल्कों में वाक़ई भ्रष्टाचार काफ़ी कम है। पर ये वे देश हैं जो भारत जैसे तीसरी दुनिया के देशों की प्राकृतिक सम्पदा और मेहनत को डकैतों की तरह लूटकर उसके एक हिस्से से अपने देश में लोगों को कुछ सुविधाएँ दे देते हैं। लेकिन इन सभी देशों में भी अमीर–ग़रीब की खाई मौजूद है और बढ़ती जा रही है। ब्रिटेन में यूँ तो भ्रष्टाचार बहुत कम है, लेकिन उसकी राजधानी सहित कई शहरों मे पिछले दिनों दंगे क्यों भड़क उठे थे?

कुछ लोग कहेंगे कि चलिये, अण्णा के आन्दोलन से अगर इतना भी हो जाये तो बहुत है। ऐसे लोग यह नहीं समझते कि उन देशों में जो हो गया वह यहाँ सम्भव नहीं है। इसे इतिहास से काटकर नहीं देखा जा सकता। शताब्दियों से ग़रीब और पिछड़े मुल्कों की लूट की बदौलत उन देशों में जो समृद्धि आयी है, उसके चलते वहाँ मौजूद भ्रष्टाचार से आम नागरिकों का रोज़–रोज़ पाला नहीं पड़ता। वैसे, इसका एक कारण यह भी है कि इन देशों में हुई जनवादी क्रान्तियों के चलते वहाँ के सामाजिक ताने–बाने में जो जनवादी मूल्य और चेतना मौजूद हैं, तथा शिक्षा और जागरूकता का जो स्तर है, वह भी शासक वर्गों को मजबूर कर देता है कि वे अन्धेरगर्दी वाला भ्रष्टाचार न करें। लेकिन यह तो गौण कारण है। मुख्य कारण वही है जिसकी चर्चा ऊपर की गयी है।

भ्रष्टाचारियों के मैनेजर, रक्षक और चाकर भी भ्रष्ट क्यों न होंगे?

पूँजीवाद अनेक स्तरों पर तरह–तरह के अन्तरविरोधों से ग्रस्त व्यवस्था है। पूँजीपति वर्ग की चाहत होती है कि उसकी 'मैनेजिंग कमेटी', यानी सरकार भ्रष्टाचार से मुक्त हो। संसद उनके हितों के अनुरूप नीतियाँ बनाये, अफ़सरशाही उन्हें चुस्ती से लागू करे, पुलिस और सशस्त्र बल क़ानून–व्यवस्था बनाये रखने के लिए मुस्तैद रहें। उत्पादन, बाज़ार, मुनाफ़े का खेल बिना किसी अड़चन–रुकावट के चलता रहे। लेकिन पूँजीवाद अपने आप में कोई एकाश्मी व्यवस्था नहीं है। उसमें पूँजीपतियों के अलग–अलग धड़ों, कार्टेलों, घरानों के बीच टकराव होते रहते हैं। आपसी प्रतिस्पर्द्धा में ठेका लेने के लिए कमीशन खिलाने (राडिया टेप काण्ड, 2जी स्पेक्ट्रम घोटाला!) और तरह–तरह के काले धन्धे करने से वे बाज़ नहीं आ सकते। पूँजीवादी जनवाद के भीतर अलग–अलग पार्टियाँ भी पूँजीपतियों के अलग–अलग धड़ों और हितों का प्रतिनिधित्व करती हैं। बुर्जुआ चुनावी पार्टियों के आपसी अन्तरविरोधों में भी पूँजीवादी व्यवस्था के विभिन्न अन्तरविरोध प्रकट होते रहते हैं। इस व्यवस्था को चलाने वाली नेताशाही और नौकरशाही पूँजीपति वर्ग की सेविका होती है लेकिन उसकी घरेलू ग़ुलाम नहीं होती। वे जानते हैं कि उनके बिना पूँजीपति वर्ग का काम नहीं चल सकता।

इसलिए, उनकी भी एक ताक़त बन जाती है। पूँजीपति वर्ग यदि चाहे भी कि नेताशाही–नौकरशाही को केवल क़ानूनी वेतन–भत्तों पर काम करने के लिए राजी कर ले तो नहीं कर सकता। फिर भी विदेशी पूँजी के थिंकटैंक और देशी पूँजी के थिंकटैंक लगातार भ्रष्टाचार और एकदम अन्धेरगर्दी वाली लूट पर अंकुश लगाने के लिए उपाय सुझाते रहते हैं। दरअसल उनकी चिन्ता इस बात को लेकर होती है कि इस व्यवस्था की उम्र लम्बी कैसे की जाये। तरह–तरह के च्यवनप्राश और विटामिन खिलाकर वे उसकी रोग प्रतिरोधक क्षमता को बढ़ाने का जतन करते रहते हैं। पूँजीवादी व्यवस्था के अन्दरूनी अन्तरविरोधों को उग्र होने से बचाने की जुगत भिड़ाते रहते हैं। अनायास नहीं है कि विश्व बैंक ने भी इसी समय विभिन्न देशों में सरकारी कामकाज में भ्रष्टाचार कम करने और पारदर्शिता बढ़ाने के लिए नयी रणनीति पर ज़ोर देना शुरू कर दिया है। 'ट्रांसपेरेंसी इण्टरनेशनल' नामक संस्था करोड़ों डॉलर के ख़र्च से हर साल दुनियाभर में भ्रष्टाचार पर रिपोर्टें निकालकर सरकारों को

(पेज 15 पर जारी)

"...जनवादी गणतन्त्र (नागरिकों के बीच) सम्पत्ति के भेदों का औपचारिक रूप से कोई लिहाज़ नहीं करता। उसमें सम्पदा अपनी शक्ति का परोक्षत:, परन्तु और भी निश्चित रूप से, उपयोग करती है। एक ओर, इस रूप में कि वह अधिकारियों को सीधे भ्रष्ट करती है (जिसका क्लासिकीय उदाहरण अमेरिका पेश करता है), दूसरी ओर, सरकार तथा स्टॉक एक्सचेंज में गठबन्धन के रूप में।"

– एंगेल्स (परिवार, निजी सम्पत्ति और राज्य की उत्पत्ति)

"जनवादी गणतन्त्र "तर्क की दृष्टि से" पूँजीवाद का विरोधी है, क्योंकि "औपचारिक रूप से" वह अमीर और ग़रीब को बराबरी का दर्जा देता है। अर्थव्यवस्था तथा राजनीतिक ऊपरी ढाँचे के बीच यह एक अन्तरविरोध है। साम्राज्यवाद तथा गणतन्त्र के बीच भी यही अन्तरविरोध है, जो इस वजह से और भी गहरा और तीखा हो गया है कि स्वतन्त्र प्रतियोगिता से एकाधिकार में रूपान्तरण सभी राजनीतिक स्वातन्त्र्यों की प्राप्ति को और भी "दुष्कर" बना देता है।

तब फिर जनवाद के साथ पूँजीवाद की संगति कैसे बैठायी जाती है? पूँजी की सर्वशक्तिमत्ता को परोक्ष रूप से क्रियान्वित करके! इसके दो आर्थिक साधन हैं : 1) सीधे–सीधे रिश्वत देना; 2) सरकार तथा स्टॉक एक्सचेंज का गठबंधन। (यह बात हमारी प्रस्थापनाओं में इस तरह कही गयी है: पूँजीवादी व्यवस्था के अन्तर्गत वित्तीय पूँजी "किसी भी सरकार को और किसी भी अधिकारी को आज़ादी के साथ रिश्वत दे सकती है और ख़रीद सकती है"।) अगर माल–उत्पादन का, बुर्जुआ वर्ग का, पैसे की शक्ति का बोलबाला है, तो रिश्वतख़ोरी (सीधे–सीधे या स्टॉक एक्सचेंज की मार्फ़त) किसी भी तरह की सरकार के अन्तर्गत, किसी भी तरह के जनवाद के अन्तर्गत "सम्भव" है।

– लेनिन (मार्क्सवाद का विद्रूप और साम्राज्यवादी अर्थशास्त्र)

पूँजीवादी व्यवस्था को ख़त्म किये बिना भ्रष्टाचार मिट नहीं सकता!

(पेज 14 से आगे)

आगाह करती रहती है। कई बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ, जिनमें जापानी कम्पनियाँ प्रमुख हैं, भारत जैसे देशों में निवेश करने से पहले दो ही शर्तें लगाती हैं – पहली, यह कि श्रम क़ानूनों को "लचीला" बनाया जाये और दूसरी यह कि सरकार अपने यहाँ कमीशनख़ोरी और भ्रष्टाचार कम करे।

पूँजीवादी व्यवस्था का दूरगामी हित सोचने वाले चाहते हैं कि व्यवस्था में भ्रष्टाचार और लूट-खसोट इतना न बढ़ जाये कि जनता इस व्यवस्था से ही निजात पाने के बारे में सोचने लगे। इसलिए कभी सुप्रीम कोर्ट सलवा जुडुम बन्द करने का आदेश देते हुए सरकार की आर्थिक नीतियों को "देश के साथ बलात्कार" की संज्ञा देता है तो कभी कोई सरकारी आयोग मज़दूरों की बदहाली और ग़रीबी की ओर ध्यान दिलाता है। देश के सबसे बड़े पूँजीपति घरानों में गिने जाने वाले किर्लोस्कर और बजाज भी अण्णा के आन्दोलन का समर्थन करते हैं और देश के दूसरे सबसे बड़े प्राइवेट बैंक एचडीएफ़सी बैंक के अध्यक्ष दीपक पारिख भी इसके पक्ष में बयान देते हैं। सभी पूँजीपतियों के कारख़ानों में श्रम क़ानूनों का खुला उल्लंघन होता है, हर साल वे करोड़ों रुपये की टैक्स चोरी करते हैं। क़ानूनी दाँवपेंचों के सहारे तमाम बड़े पूँजीपतियों ने राष्ट्रीय बैंकों के हज़ारों करोड़ रुपये मार लिये हैं, मगर ये सब भ्रष्टाचार ख़त्म करना चाहते हैं। तमाम तरह की बीमा और बचत योजनाओं के सहारे जनता का पैसा मारने के लिए कुख्यात और क़ानूनों को ठेंगा दिखाकर ठेका कर्मचारियों और एजेण्टों का शोषण करने वाले निजी बैंक और फ़ाइनेंस कम्पनियाँ भी भ्रष्टाचार-विरोध के समर्थन में हैं। और नीचे आते-आते तो समर्थन का यह तमाशा एक हास्यास्पद प्रहसन में तब्दील हो जाता है। सभी जानते हैं कि फ़िल्मी सितारों की कमाई का 90 प्रतिशत तक काला धन होता है। पर वे भी बड़ी शान से अण्णा के पक्ष में भाषण दे रहे हैं और "ट्वीट" कर रहे हैं। ऊपर से नीचे तक काले धन के सभी छोटे-बड़े सरदार इस आन्दोलन के पक्ष में नज़र आ रहे हैं। बिल्कुल निचले स्तर पर प्रॉपर्टी डीलर, व्यापारी और गली के डण्डीमार दुकानदार तक वे तमाम लोग अण्णा की टोपी पहने नज़र आ रहे थे जो सुबह से रात तक भ्रष्टाचार ही करते रहते हैं।

लोकतन्त्र के नये पहरुओं का चाल-चेहरा-चरित्र क्या है

अब ज़रा 'टीम अण्णा' के सदस्यों पर भी एक नज़र मार ली जाये। अण्णा हज़ारे भ्रष्टाचार को देश की सबसे बड़ी समस्या बताते हैं और इस आन्दोलन को आज़ादी की दूसरी लड़ाई घोषित कर देते हैं। वे और उनकी टीम के सदस्य लोकतन्त्र को लेकर काफ़ी चिन्ता प्रकट करते हैं, मगर देश के कई इलाक़ों में जनता के अधिकारों को पुलिस और सेना के बूटों तले रौंदे जाने पर वे एक शब्द भी नहीं बोलते। किसानों की आत्महत्या पर, ऑपरेशन ग्रीनहण्ट पर, उत्तर-पूर्व और कश्मीर में सेना के बर्बर दमन पर, करोड़ों मज़दूरों के शोषण पर वे चुप रहते हैं। मीडिया में बार-बार सवाल उठने पर अब वे चलते-चलाते किसानों और मज़दूरों की समस्याओं की चर्चाभर कर देते हैं। मध्य भारत के जंगलों में अपने अस्तित्व के लिए लड़ रहे आदिवासियों के ख़िलाफ़ सेना तैनात करने की सरकारी योजना पर भी उनके कोई उद्‌गार प्रकट नहीं होते। मगर वे ग़ैर-मराठियों के विरुद्ध राज ठाकरे के अभियान का समर्थन कर चुके हैं और मुसलमानों का क़त्लेआम कराने वाले नरेन्द्र मोदी के "विकास के मॉडल" की सराहना भी करते हैं। अण्णा के गाँव रालेगण सिद्धि में पिछले पच्चीस वर्ष से ग्राम पंचायत या सहकारी समिति के चुनाव नहीं हुए हैं। जाति व्यवस्था पर उनका सोचना यह है कि "हर गाँव में एक चमार, एक सुनार, एक कुम्हार आदि होना चाहिए। उन सबको अपनी-अपनी भूमिका और पेशे के अनुसार काम करना चाहिए।"

टीम अण्णा के प्रमुख सदस्य अरविन्द केजरीवाल, मनीष सिसौदिया, किरण बेदी, मयंक गाँधी आदि बड़े-बड़े एनजीओ चलाते हैं जिन्हें कोका कोला, लेहमान ब्रदर्स और फ़ोर्ड फ़ाउण्डेशन जैसी संस्थाओं से करोड़ों रुपये की फ़ण्डिंग मिलती है। इण्डिया अगेंस्ट करप्शन के अभियान को अंशदान देने वालों में कई बड़ी-बड़ी देशी कम्पनियाँ और संस्थाएँ हैं जिनमें से कुछ हज़ारों करोड़ के वित्तीय साम्राज्य चलाने वाले राजनीतिज्ञों से भी जुड़ी हुई हैं। केजरीवाल सफ़ाई देते हैं कि उन लोगों के एनजीओ का सारा हिसाब-किताब इण्डिया अगेंस्ट करप्शन की वेबसाइट पर उपलब्ध है। यहाँ मुद्दा यह है ही नहीं कि केजरीवाल या किसी अन्य ने एनजीओ का पैसा खा लिया या उससे कितनी कमाई की। ये स्वयंसेवी संस्थाएँ जहाँ से वित्तपोषण लेती हैं, ये वे पूँजीवादी घराने और कम्पनियाँ हैं जिन्होंने कई देशों में रक्तरंजित तख़्तापलट कराये हैं, चुनी हुई सरकारों को गिराकर सैनिक जुन्ताओं को सत्ता पर क़ब्ज़ा करने में मदद की है, महाभ्रष्ट तानाशाहों और सैनिक जुन्ताओं का काला धन अपने यहाँ निवेश कराया है – इनके मानवता-विरोधी अपराधों की फ़ेहरिस्त इतनी लम्बी है कि यहाँ गिनायी नहीं जा सकती। ये लोग पूरी दुनिया के देशों में एनजीओ की फ़ण्डिंग क्यों करते हैं, इस पर बहुत कुछ लिखा जा चुका है। मगर भ्रष्टाचार-विरोधी इस "जंग" के सिपहसालारों को भ्रष्टाचार के कीचड़ और करोड़ों इंसानों के ख़ून से सनी यह फ़ण्डिंग स्वीकार करने में कोई गुरेज़ नहीं।

प्रश्न केवल अरविन्द केजरीवाल, मनीष सिसौदिया या किरण बेदी का नहीं है। ऊपर से नीचे तक एनजीओपन्थी इस आन्दोलन में सक्रिय हैं। टीम के दो अन्य प्रमुख सदस्यों शान्तिभूषण और प्रशान्त भूषण को ले लें। शान्तिभूषण एक-एक पेशी के लिए 25 लाख रुपये फ़ीस लेते हैं। प्रशान्तभूषण की फ़ीस भी लाखों में है। न्याय जनता का बुनियादी अधिकार है। मगर इतने महँगे वकील क्या जनता को न्याय दिला सकते हैं? कुछ जनहित याचिकाओं और कुछ राजनीतिक बन्दियों को ज़मानत दिलाने आदि को प्रशान्त भूषण मोरपंखी की तरह सिर पर टाँक लेते हैं, लेकिन जिन बड़े-बड़े घरानों की ये पैरवी करते हैं वे लाखों मज़दूरों के निर्मम शोषण, पर्यावरण की तबाही और तमाम क़ानूनों के उल्लंघन के दोषी हैं। कहीं न कहीं उनके अपराधों में ये भी भागीदार हैं।

बुर्जुआ जनवाद के चिथड़ा लबादे पर सुधारों की पैबन्दसाज़ी

इधर अण्णा हज़ारे के चतुर सलाहकारों ने उम्मीदवारों को नापसन्द करने के अधिकार ('राइट टू रिजेक्ट'), जनप्रतिनिधियों को वापस बुलाने के अधिकार ('राइट टू रिकॉल'), सरकारी ख़र्चे पर चुनाव कराने जैसी माँगों की चर्चा तेज़ कर दी है। अव्वलन तो भारत के पूँजीवादी जनवाद में इनका लागू होना सम्भव ही नहीं है। ये विशुद्ध लोकलुभावन बातें हैं। और मान लें कि अगर ये लागू हो भी जायें तो इनसे जनता के हाथों में सत्ता नहीं आ जायेगी। ये महज़ कुछ सजावटी क़िस्म के सुधार होंगे। छोटे स्तर पर ग्राम सभाओं के चुनाव के उदाहरण से इसे समझा जा सकता है, जहाँ पैसे का खेल इस तरह नहीं चलता। फिर भी अधिकांश जगहों पर कोई अमीर, मानिन्द व्यक्ति ही क्यों चुनाव जीतता है? आरक्षित सीटों पर भी प्राय: ग़ैर-दलित जातियों के प्रभुत्वशाली लोगों का कोई लग्गू-भग्गू ही जीत जाता है। स्त्रियों के लिए आरक्षित सीटों पर अधिकांश जगहों पर उनके परिवार के मर्द ही वास्तव में जीतते हैं। अगर शोषण और ग़ैर-बराबरी पर आधारित आर्थिक सम्बन्ध क़ायम रहेंगे तो ऊपरी ढाँचे में किसी भी प्रकार की पैबन्दसाज़ी एक मज़ाक़ बनकर ही रह जायेगी। उससे किसी वास्तविक बदलाव की उम्मीद करना भोलापन होगा।

इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि पूँजीवादी जनवाद के भीतर जनवादी अधिकारों के लिए लड़ते हुए ही जनता समाजवाद के लिए लड़ना सीखती है। लेकिन समाजवाद के लिए संघर्ष केवल राजनीतिक चौहद्दी में नहीं चलता। वह आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक तीनों चौहद्दियों में चलाना होता है। महज़ राजनीतिक क्षेत्र में कुछ सुधार कर देने से कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता।

इस व्यवस्था के भीतर होने वाले चुनाव अगर सरकारी ख़र्च से होने लगेंगे और बहुसंख्यक आबादी ग़रीब और वंचित रहेगी, तथा उत्पादन के साधनों की मालिक नहीं होगी तो सम्पन्न वर्गों के नुमाइन्दे ही चुनकर संसद और विधानसभाओं में पहुँचेंगे। सरकारी ख़र्च पर पूरा चुनावी प्रचार सम्भव नहीं होगा, और सभी उम्मीदवार अपनी-अपनी हैसियत के मुताबिक़ जमकर ख़र्च करेंगे। काले धन का पहले की तरह जमकर उपयोग होगा। पूँजीवादी व्यवस्था में निर्वाचक मण्डल (एमपी-एमएलए का चुनाव क्षेत्र) इतना बड़ा होता है कि ख़र्चों और अवैध तौर-तरीक़ों की सटीक पड़ताल की ही नहीं जा सकती। आज भी तो उम्मीदवारों के ख़र्च की अधिकतम सीमा तय है और चुनाव आयोग इसकी जाँच करता ही रहता है। लेकिन हर पूँजीवादी पार्टी के उम्मीदवार करोड़ों रुपये ख़र्च करते हैं। सारे मतदाताओं तक पहुँचने के लिए उनमें ज़बरदस्त होड़ मची रहती है। इसके लिए कारपोरेट घरानों, जमाख़ोर व्यापारियों, अपराधियों आदि से छिपे तौर पर करोड़ों-करोड़ का चन्दा लिया जाता है, और बहुत-से सम्पन्न उम्मीदवार खुद अपनी जेब से करोड़ों ख़र्च करते हैं। पैसे लगाने वालों के लिए यह भी एक निवेश होता है, और चुनाव जीतते ही एक के बदले दस बनाने के लिए वे जमकर भ्रष्टाचार करते हैं। 1960-67 में इन्दिरा गाँधी ने कारपोरेट घरानों से राजनीतिक दलों के पैसे लेने पर रोक लगा दी, लेकिन इससे रंचमात्र भी फ़र्क़ नहीं पड़ा। पूँजीवादी पार्टियाँ कारपोरेट घरानों से चन्दा लिये बिना चुनाव लड़ ही नहीं सकतीं।

इसी तरह जनप्रतिनिधि को वापस बुलाने का अधिकार इस व्यवस्था में लागू ही नहीं हो सकता। जनता का बहुमत किसी सांसद या विधायक को वापस बुलाना चाहता है – यह तय करने के लिए भी तो फिर से मतदान ही कराना पड़ेगा जिसमें वोट ख़रीदने के लिए फिर उसी क़िस्म का भ्रष्टाचार होने लगेगा जो चुनाव में होता है।

पूँजीवादी जनवाद के दायरे के भीतर जनता अगर जागृत, संगठित और गोलबन्द होकर अपने अधिकारों की लड़ाई लड़ती है और संघर्षों के दौरान उसकी सामूहिक चेतना विकसित होती है तो सामूहिक चौकसी के द्वारा एक हद तक रोज़मर्रा के भ्रष्टाचार को सीमित किया जा सकता है। मगर पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में सट्टेबाज़ी, वायदा क़ारोबार, जमाख़ोरी, रिश्वतख़ोरी और काले धन का जो विराट समानान्तर तन्त्र पैदा होता है उसे ख़त्म नहीं किया जा सकता। इस समस्या का आमूलगामी समाधान पूँजीवाद की समाप्ति के साथ ही हो सकता है। जो मेहनतकश जनसमुदाय समाज की समस्त सम्पदा का उत्पादन करता है जब तक वह उत्पादन के अधिशेष का हस्तगतकर्ता भी न हो जाये, जब तक उत्पादन-राजकाज और समाज पर उत्पादन करने वाले लोग इस तरह क़ाबिज़ न हो जायें कि फ़ैसले की ताक़त वास्तव में उनके हाथों में हो तब तक भ्रष्टाचार की समस्या का समाधान नहीं हो सकता। वास्तविक लोकतन्त्र वही हो सकता है कि जिसमें बुनियादी स्तर की आर्थिक इकाइयों में आम जनता के चुने हुए प्रतिनिधि निर्णय और प्रबन्धन के कामों को सीधे अपने हाथों में ले लें। उत्पादन कर्म में भागीदारी के साथ-साथ उत्पादन और वितरण की पूरी प्रक्रिया का संचालन भी वही करें। इसी बुनियाद से क्रमश: ऊपर उठते हुए प्रशासनिक

(पेज 2 पर जारी)

मैं भी अन्ना

गलियाँ बोलीं, मैं भी अन्ना, कूचा बोला, मैं भी अन्ना!
सचमुच देश समूचा बोला, मैं भी अन्ना, मैं भी अन्ना!
भ्रष्ट तन्त्र का मारा बोला, महँगाई से हारा बोला!
बेबस और बेचारा बोला, मैं भी अन्ना, मैं भी अन्ना!
जोश बोला मैं भी अन्ना, होश बोला मैं भी अन्ना!
युवा शक्ति का रोष बोला, मैं भी अन्ना, मैं भी अन्ना!
साधु बोला मैं भी अन्ना, योगी बोला मैं भी अन्ना!
रोगी बोला, भोगी बोला, मैं भी अन्ना, मैं भी अन्ना!
गायक बोला, मैं भी अन्ना, नायक बोला, मैं भी अन्ना!
दंगों का खलनायक बोला, मैं भी अन्ना, मैं भी अन्ना!
कर्मनिष्ठ कर्मचारी बोला, लेखपाल पटवारी बोला!
घूसख़ोर अधिकारी बोला, मैं भी अन्ना, मैं भी अन्ना!
मुम्बई बोली मैं भी अन्ना, दिल्ली बोली मैं भी अन्ना!
नौ सौ चूहे खाने वाली, बिल्ली बोली, मैं भी अन्ना!
डमरू बजा मदारी बोला, नेता खद्दरधारी बोला!
जमाख़ोर व्यापारी बोला, मैं भी अन्ना, मैं भी अन्ना!
हइया बोला मैं भी अन्ना, हइशा बोला मैं भी अन्ना!
एनजीओ का पइसा बोला, मैं भी अन्ना, मैं भी अन्ना!
दायाँ बोला, मैं भी अन्ना, बायाँ बोला, मैं भी अन्ना!
खाया, पिया, अघाया बोला, मैं भी अन्ना, मैं भी अन्ना!
निर्धन जन की तंगी बोली, जनता भूखी नंगी बोली
हीरोइन अधनंगी बोली, मैं भी अन्ना, मैं भी अन्ना!
नफ़रत बोली मैं भी अन्ना, प्यार बोला मैं भी अन्ना!
हँसकर भ्रष्टाचार बोला, मैं भी अन्ना, मैं भी अन्ना!

– अरुण आदित्य

(साभार : अमर उजाला, 28 अगस्त, 2011)

मारुति सुजुकी के मज़दूर फिर जुझारू संघर्ष की राह पर

पिछली 29 अगस्त को मानेसर स्थित मारुति सुजुकी के कारख़ाने में सुबह की शिफ़्ट के मज़दूर जब काम पर पहुँचे तो गेट को लोहे की चादरों से सील कर दिया गया था और बाहर लगाये गये नोटिस बोर्ड पर दस मज़दूरों की बर्ख़ास्तगी और ग्यारह के निलम्बन का नोटिस लगा हुआ था। कम्पनी ने शर्त लगा दी थी कि जो मज़दूर "अच्छे आचरण के शपथपत्र" पर हस्ताक्षर नहीं करेगा, वह फ़ैक्टरी के अन्दर नहीं जा सकेगा। इस शपथपत्र में लिखा था कि अगर कोई मज़दूर किसी भी प्रकार काम धीमा करने, वर्क टू रूल, हड़ताल, या किसी भी अन्य प्रकार के काम रोकने वाली गतिविधि में लिप्त पाया गया तो उसे बर्ख़ास्त किया जा सकता है।

इस सरासर ग़ैर-क़ानूनी शपथपत्र पर हस्ताक्षर करने का मतलब है अपनी आज़ादी को पूरी तरह से मैनेजमेण्ट के हाथों में गिरवी रख देना। मैनेजमेण्ट जब चाहे किसी भी मज़दूर को उत्पादन को नुक़सान पहुँचाने का दोषी ठहराकर बर्ख़ास्त कर सकता है। मारुति के सभी मज़दूरों ने ज़बरदस्त एकजुटता का परिचय देते हुए इस काले कागज़ पर हस्ताक्षर करने से साफ़ इंकार कर दिया और फ़ैक्टरी गेट पर धरने पर बैठ गये। 'मज़दूर बिगुल' का यह अंक प्रेस में जाने तक अवैध तालाबन्दी जारी थी, कुल 49 मज़दूरों को बर्ख़ास्त या निलम्बित किया जा चुका था और इसके ख़िलाफ़ मज़दूर संघर्ष में डटे हुए थे।

पिछले 4 से 16 जून तक चली मारुति की हड़ताल के बाद हुए समझौते में 11 बर्ख़ास्त मज़दूरों को काम पर वापस लेने के लिए मैनेजमेण्ट को बाध्य कर देने को ही मज़दूर अपनी जीत समझ रहे थे और तमाम बड़ी यूनियनें भी इसे इसी रूप में पेश कर रही थीं। लेकिन जैसाकि 'मज़दूर बिगुल' के अंकों में हमने पहले भी लिखा था, उस जुझारू हड़ताल के मूल मुद्दों पर समझौते में कोई बात नहीं थी। मैनेजमेण्ट ने समझौते के बाद से ही मज़दूरों को तंग करने के लिए तरह-तरह के हथकण्डे अपनाने शुरू कर दिये थे। 28 जुलाई को, चार अगुवा मज़दूरों को झूठे आरोप लगाकर बर्ख़ास्त कर दिया गया जिसका मज़दूरों ने कड़ा विरोध किया। इसके पहले से ही कम्पनी ने आसपास के भाड़े के गुण्डों को सिक्योरिटी गार्डों के रूप में भर्ती करना शुरू कर दिया था और सुपरवाइज़रों तथा मैनेजरों के ज़रिये मज़दूरों को उकसाने और फिर उन पर कार्रवाई करने की तिकड़में शुरू कर दी थीं। जून से लेकर अगस्त के बीच 84 कैज़ुअल और ट्रेनी मज़दूरों को किसी न किसी बहाने निकाला जा चुका था।

जून की हड़ताल के समय अपनी स्वतन्त्र यूनियन गठित करने की माँग मुख्य माँग थी। इसके साथ ही, मानेसर परिसर में लग रहे नये प्लाण्ट में नयी भर्ती न करके कई-कई साल से काम कर रहे ट्रेनी और कैज़ुअल मज़दूरों को नियमित करने तथा वेतन, इन्सेण्टिव, और काम की परिस्थितियों से जुड़ी अन्य माँगें शामिल थीं। इनमें से किसी भी माँग पर समझौता नहीं होने के कारण यह तो तय था कि देर-सबेर मज़दूरों को फिर से संघर्ष के रास्ते पर उतरना होगा। लेकिन मारुति के मज़दूरों को यह अनुमान नहीं था कि मैनेजमेण्ट इतनी जल्दी और इस तरह जवाबी हमला करेगा।

एक-एक मिनट निचोड़ डालने के जापानी नुस्ख़े

मानेसर कारख़ाने की उत्पादन क्षमता प्रतिदिन 1,200 कारों की है, जबकि मज़दूरों को प्रतिदिन 1,400-1,470 कारों का उत्पादन करना पड़ता है। उन्हें साँस लेने के लिए भी एक मिनट की फ़ुर्सत नहीं मिलती। हर मज़दूर एक शिफ़्ट में क़रीब 600 कारों पर काम करता है। हर कार पर एक मज़दूर को 45 सेकण्ड काम करना पड़ता है, यानी आठ घण्टे की शिफ़्ट में दिनभर में कुल-मिलाकर साढ़े सात घण्टे। उन्हें बीस मिनट का लंच ब्रेक और 7-7 मिनट के दो टी-ब्रेक मिलते हैं। इसी समय में मज़दूरों को चाय-नाश्ते के साथ-साथ टॉयलेट भी होकर आना पड़ता है। एक मिनट की देरी होने पर भी इलेक्ट्रॉनिक अटेण्डेंस मशीन से आधे दिन की तनख़्वाह कट जाती है। उन्हें कोई कैज़ुअल लीव या बीमारी की छुट्टी नहीं मिलती। अगर कोई मज़दूर बिना मज़दूरी के एक दिन की छुट्टी ले ले तो उसके 1,500 रुपये कट जाते हैं, दो दिन की छुट्टी लेने पर 2,200 और तीन दिन की छुट्टी लेने पर 7,000 रुपये तक काटे जा सकते हैं। लेकिन अगर मज़दूर छुट्टी के दिन ओवरटाइम करता है तो उसे सिर्फ़ 250 रुपये मिलते हैं। हर साल सैकड़ों करोड़ मुनाफ़ा कमाने वाली कम्पनी में मज़दूरों को ढंग की स्वास्थ्य सुविधाएँ तक नहीं मिलतीं। फ़ैक्टरी की डिस्पेंसरी में दर्द और बुख़ार की कुछ पेटेण्ट दवाओं के सिवा कुछ नहीं मिलता। सुरक्षा उपकरणों में लगातार कटौती की जाती है। यहाँ तक कि दस्ताने पुराने हो जाने पर मज़दूरों को उन्हें ही उलटकर पहनना पड़ता है, जिससे अक्सर ही एलर्जी आदि होती रहती है। मानेसर के मज़दूरों को मिलने वाली तनख़्वाह उसी काम के लिए गुड़गाँव संयन्त्र के मज़दूरों के मुक़ाबले काफ़ी कम होती है, जबकि यहाँ उनसे ज्यादा तेज़ रफ़्तार पर काम कराया जाता है। मज़दूरों पर काम का दबाव बहुत अधिक होता है। चारों ओर लगे कैमरों (टॉयलेट और कैण्टीन में भी) के ज़रिये उन पर लगातार निगाह रखी जाती है कि कहीं वे एक मिनट भी सुस्ता तो नहीं रहे।

मानेसर संयन्त्र में लगभग 1,000 नियमित मज़दूरों के अलावा क़रीब 750 ट्रेनी और लगभग 2,000 ठेका मज़दूर भी काम करते हैं। सभी मज़दूरों को तीन वर्ष की ट्रेनिंग अवधि से गुज़रना पड़ता है जिस दौरान कोई भी श्रम क़ानून लागू नहीं होता। इस अवधि के बाद उन्हें वर्दी मिलती है और नियमित कर दिया जाना चाहिए, लेकिन बहुत से ट्रेनी मज़दूर तीन साल बीत जाने के बाद भी ट्रेनी ही बने रहते हैं। ठेका मज़दूरों की दशा तो और भी बुरी है। वे बमुश्किल 4,500-6,000 कमा पाते हैं और उन्हें लगातार ओवरटाइम करना पड़ता है जिससे वे इंकार नहीं कर सकते। पिछले कुछ वर्षों के दौरान कारों के मॉडल और उत्पादित कारों की संख्या बढ़ती गयी है लेकिन मज़दूरों की संख्या नहीं बढ़ी है।

इन्हीं परिस्थितियों के ख़िलाफ़ आवाज़ उठाने के लिए मारुति के मज़दूरों ने अपनी स्वतन्त्र यूनियन 'मारुति सुज़ुकी इम्प्लायज़ यूनियन' का गठन किया, क्योंकि गुड़गाँव संयन्त्र में आधारित मैनेजमेण्ट-परस्त 'मारुति उद्योग कामगार यूनियन' उनके मुद्दों को नहीं उठाती थी। मैनेजमेण्ट ने यूनियन को मान्यता देने से साफ़ इंकार कर दिया और मज़दूरों से इस आशय के शपथपत्र पर हस्ताक्षर कराने शुरू कर दिये कि वे नयी यूनियन में शामिल नहीं होंगे। इसी के विरोध में मज़दूर जून में हड़ताल पर चले गये थे।

आन्दोलन को स्पष्ट दिशा देने की ज़रूरत

मारुति के मज़दूर भरपूर जोशो-ख़रोश और एकजुटता के साथ आन्दोलन में डटे हुए हैं। लेकिन दूसरी ओर ऐसा भी लगता है कि पिछले जून की हड़ताल से ज़रूरी सबक़ नहीं सीखे गये हैं। बिगुल मज़दूर दस्ता की टीम पहले दिन से ही मारुति के मज़दूरों के आन्दोलन में उनके साथ शिरकत करती रही है। इस दौरान अपने अनुभवों के आधार पर हम नेतृत्व के साथियो और मज़दूरों से लगातार इन मुद्दों पर बात करते रहे हैं।

यह साफ़ है कि मैनेजमेण्ट ने पूरी योजना और तैयारी के साथ यह हमला किया है। लेकिन मज़दूरों की ओर से इसकी जवाबी कार्रवाई में योजनाबद्धता, स्पष्ट दिशा, तेज़ी और अपनी ताक़त का उचित इस्तेमाल करने की क्षमता की कमी दिखायी देती है। इतने दिन बाद भी आन्दोलन की कोई स्पष्ट योजना और कार्यक्रम नहीं है।

दरअसल, संघर्ष को सही परिप्रेक्ष्य में नहीं देख पाने के कारण मज़दूरों के लिए यह समझना मुश्किल है कि उनकी लड़ाई लम्बी और कठिन है। अधिकांश मज़दूर इस बात को नहीं समझ पा रहे कि यह सब यूनियन गतिविधियों को सुनियोजित ढंग से ख़त्म करने की कोशिश का हिस्सा है जिसमें राज्य सरकार पूरी तरह से कम्पनी के साथ है। भूमण्डलीकरण के दौर की नीतियों के तहत पूरे देश और दुनियाभर में यूनियन अधिकारों पर बढ़ते हमलों और मन्दी तथा बढ़ती होड़ के कारण कम्पनियों पर लागत कम करने के दबाव के परिप्रेक्ष्य में भी वे इन कार्रवाइयों को नहीं देख पा रहे। पिछली हड़ताल के समय ही हरियाणा के मुख्यमन्त्री भूपिन्दर सिंह हुड्डा ने सुज़ुकी कम्पनी के सीईओ को आश्वासन दिया था कि एक कम्पनी के भीतर दो यूनियनें नहीं बनने दी जायेंगी। सरकार के इशारे पर ही श्रम विभाग ने एक बेबुनियाद तकनीकी आपत्ति उठाकर अगस्त में यूनियन के पंजीकरण का आवेदन ख़ारिज कर दिया। इस आन्दोलन के दौरान सुज़ुकी के जापानी चेयरमैन ओसामू सुज़ुकी ने तो धमकी भरे स्वर में कहा कि अनुशासन के मसले पर कोई समझौता नहीं किया जायेगा। इन बयानों के अगले ही दिन गुड़गाँव की उप श्रमायुक्त ने एकदम मैनेजमेण्ट की भाषा में कहा कि 'गुड कण्डक्ट बॉण्ड' नियमों के अनुसार सही है और अगर मज़दूर काम पर जाना चाहते हैं तो उन्हें इस पर हस्ताक्षर करना ही होगा। हरियाणा सरकार शुरू से ही मैनेजमेण्ट के साथ पूरी नंगई से खड़ी थी। तालाबन्दी के पहले वाली शाम से ही क़रीब 300 पुलिसकर्मी कारख़ाना परिसर में तैनात कर दिये गये थे। सरासर अवैध तालाबन्दी के 15 दिन बीत जाने पर भी सरकार ने इसे ख़त्म कराने की कोई कोशिश नहीं की। इसके बाद भी तमाम केन्द्रीय ट्रेडयूनियनों के नेताओं ने मज़दूरों को यह अहसास दिलाने की कोई कोशिश नहीं की कि उनकी लड़ाई आसान नहीं है और गरम-गरम भाषणों से उन्हें भरमाने और झूठे सब्ज़बाग़ दिखाने में लगे रहे।

लम्बे समय तक मैनेजमेण्ट के झुकने या हुड्डा सरकार द्वारा हस्तक्षेप करने का इन्तज़ार किया जाता रहा। लेकिन अगर दुनिया में, ख़ासकर जापानी मैनेजमेण्ट वाली कम्पनियों के अनुभव को देखें तो साफ़ हो जाता है कि मज़दूरों के लिए कामयाबी का एकमात्र रास्ता एकजुट संघर्ष का रास्ता ही होता है।

क़ानूनी पक्ष मज़बूत होने के बावजूद यूनियन की ओर से क़ानूनी लड़ाई की भी कोई कोशिश नहीं की गयी। कई दिनों तक सरकार को कोई ज्ञापन भी नहीं सौंपा गया था।

आन्दोलन के समर्थन में प्रचार करने के दौरान हमने ख़ुद देखा है कि गुड़गाँव-मानेसर-धारूहेड़ा से लेकर भिवाड़ी तक के मज़दूर तहेदिल से इस लड़ाई के साथ हैं। लेकिन उन्हें साथ लेने के लिए कोई कार्यक्रम नहीं है। जून की हड़ताल की ही तरह इस बार भी व्यापक मज़दूर आबादी को आन्दोलन से जोड़ने का कोई ठोस प्रयास नहीं किया गया है। मारुति के आन्दोलन में उठे मुद्दे गुड़गाँव के सभी मज़दूरों के साझा मुद्दे हैं – लगभग हर कारख़ाने में अमानवीय वर्कलोड, जबरन ओवरटाइम, वेतन में कटौती, ठेकेदारी, यूनियन अधिकारों का हनन और लगभग ग़ुलामी जैसे माहौल में काम कराने से मज़दूर त्रस्त हैं और समय-समय पर इन माँगों को लेकर लड़ते रहे हैं। बुनियादी श्रम क़ानूनों का भी पालन लगभग कहीं नहीं होता। इन माँगों पर अगर मारुति के मज़दूरों की ओर से गुडगाँव-मानेसर और आसपास के लाखों मज़दूरों का आह्वान किया जाता और केन्द्रीय यूनियनें ईमानदारी से तथा अपनी पूरी ताक़त से उसका साथ देतीं तो एक व्यापक जन-गोलबन्दी की जा सकती थी। इसका स्वरूप कुछ भी हो सकता था – जैसे, इसे एक ज़बरदस्त मज़दूर सत्याग्रह का रूप दिया जा सकता था।

पूरे इलाक़े के मज़दूरों के मौन समर्थन को संघर्ष की एक प्रबल शक्ति में तब्दील करने के लिए सक्रिय प्रयासों और योजना की ज़रूरत है। बीच-बीच में किये गये एकाध कार्यक्रमों और अख़बारी बयानों मात्र से यह समर्थन कोई मज़बूत ताक़त नहीं बन सकता। हैरानी की बात है कि इतने लम्बे चले आन्दोलन के दौरान आम मज़दूर आबादी को आन्दोलन से जोड़ने के लिए एक भी पर्चा या पोस्टर तक नहीं निकाला गया। आम मज़दूर आबादी आन्दोलन के बारे में उतना ही जानती है जितना अख़बारों या टीवी द्वारा बताया जा रहा है। भारी संसाधनों से लैस तमाम केन्द्रीय यूनियनें अगर एक पर्चा या पोस्टर तक नहीं निकाल सकतीं तो यह सवाल उठना स्वाभाविक है कि वे आन्दोलन को व्यापक बनाना ही नहीं चाहतीं।

मारुति का नेतृत्व भी आम मज़दूरों को निर्णयों में भागीदार बनाने और उनके जोश और सक्रियता का पूरा इस्तेमाल कर पाने में पीछे रहा है। हज़ारों युवा मज़दूरों को लेकर जन-गोलबन्दी और प्रचार के विभिन्न रूपों का इस्तेमाल किया जा सकता था। लेकिन अक्सर वे बिना किसी योजना के बैठे रहते हैं। आम मज़दूरों को इस बात की पूरी जानकारी ही नहीं होती कि आगे संघर्ष का क्या कार्यक्रम है। ट्रेडयूनियन जनवाद के उसूलों को जब तमाम वामपन्थी यूनियनें भी ताक पर धर चुकी हैं तो बाक़ी मज़दूरों को भला वे क्या सिखायेंगे?

आन्दोलन के पक्ष में दबाव बनाने के लिए देश के विभिन्न मज़दूर संगठनों, यूनियनों और नागरिक समाज से सम्पर्क करने का कोई भी सुनियोजित प्रयास नहीं किया गया। देश और दुनिया की तमाम ऑटोमोबाइल यूनियनों आदि से भी सम्पर्क किया जाता तो मैनेजमेण्ट और सरकार पर दबाव बनाया जा सकता था।

इस स्थिति के लिए सबसे अधिक ज़िम्मेदार वे कथित "वाम" यूनियनें हैं जो आन्दोलन का नेतृत्व हथियाने के लिए आपस में होड़ा-होड़ी तो करती हैं, लेकिन इसे कोई दिशा नहीं दे सकतीं। मज़दूरों के बीच राजनीतिक प्रचार के काम को तो ये बहुत पहले ही तिलांजलि दे चुकी थीं और अब तो कोई जुझारू आर्थिक संघर्ष करने के क़ाबिल भी नहीं रह गयी हैं। उनका सबसे बड़ा काम है, कुछ गरम-गरम जुमलेबाज़ियों के बाद मज़दूरों के ग़ुस्से पर पानी के छींटे डालना और किसी भी आन्दोलन को जुझारू और व्यापक होने से रोककर किसी-न-किसी समझौते में ख़त्म करा देना।

आन्दोलन अभी जारी है और मज़दूरों का दबाव बना हुआ है कि इसे व्यापक और जुझारू बनाया जाये। उन्हें लगातार सतर्क और सक्रिय रहकर यह सुनिश्चित करना होगा कि इस बार उनकी लड़ाई महज़ "फिर से भीतर जाने की लड़ाई" बनकर न रह जाये, बल्कि यूनियन के अधिकार और कैज़ुअल एवं ट्रेनी सहित सभी मज़दूरों की समस्याओं पर भी ठोस बातचीत हो।

● बिगुल मज़दूर दस्ता की टीम

मुद्रक, प्रकाशक और स्वामी कात्यायनी सिन्हा द्वारा 69 ए-1, बाबा का पुरवा, निशातगंज, लखनऊ-226006 से प्रकाशित एवं उन्हीं के द्वारा मल्टीमीडियम, 310, संजय गांधीपुरम, फ़ैज़ाबाद रोड, लखनऊ से मुद्रित। सम्पादक : सुखविन्दर, अभिनव ● सम्पादकीय पता : 69 ए-1, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ-226006